ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

136

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

फरवरी 2025 • ₹ 50

स्वास्थ्य सेवा में बाजार और नैतिकता

- प्रतिवाद, प्रतिबद्धता और 'पहल'
- जाति जनगणना और सामाजिक न्याय
- शहर, साइकिल और जागरूकता

साहित्यिक पत्रकारिता के तीन दशक

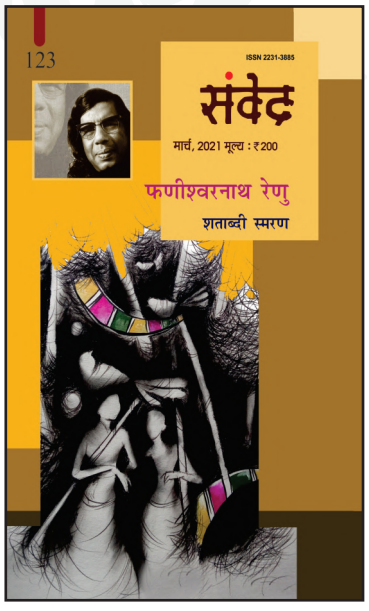

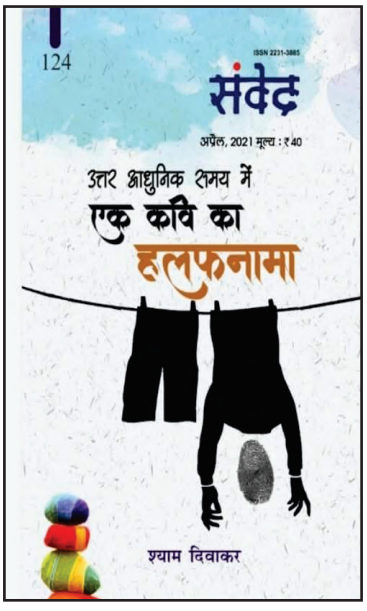

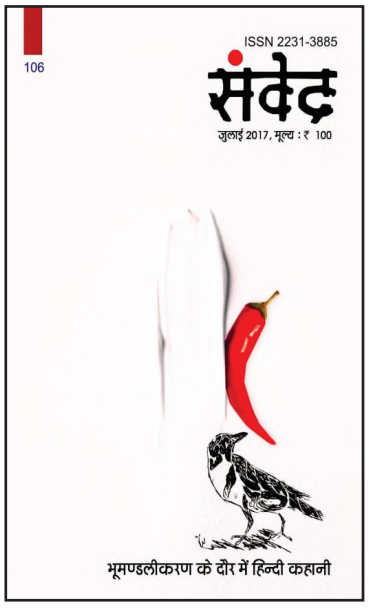

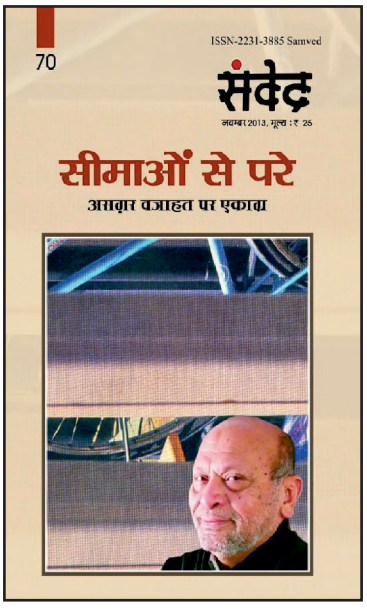

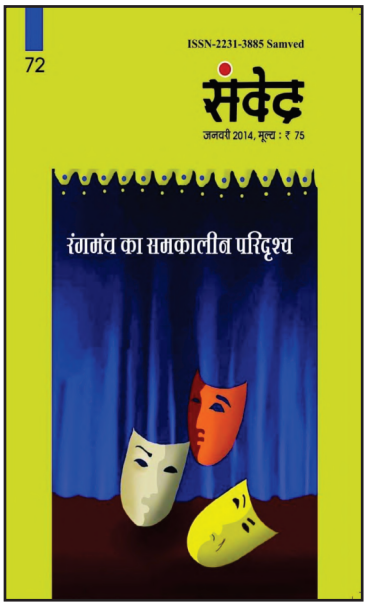

सम्पादक
किशन कालजयी

एक अंक : चालीस रुपये
विशेषांक : दो सौ रुपये
वार्षिक सदस्यता : सात सौ रुपये
एक हजार रुपये (रजिस्टर्ड डाक से)

B-3/44, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
+91 8340436365
linkedin.com/company/samvedindia
samved.sablog.in
facebook.com/samvedmasik
samvedmonthly@gmail.com
twitter.com/samvedindiaInstagram
instagram.com/samvedindia

सबलोग-136

वर्ष 16, अंक 2, फरवरी 2025

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL
www.sablog.in

सम्पादक
किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक
गुलशन चौधरी

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय
बिहार : कुमार कृष्णन
झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)
आनन्द कुमार
रत्नेश्वर मिश्र
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
मंजु रानी सिंह
सफदर इमाम कादरी
प्रमोद मीणा
राजेन्द्र रवि
मधुरेश
महादेव टोप्पो
विजय कुमार
आशा
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'
अभय सागर मिंज

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365
sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 50 रुपये–वार्षिक : 600 रुपये
डाक खर्च सहित 1100 रुपये

सबलोग
खाता संख्या-49480200000045
बैंक ऑफ बड़ौदा,
शाखा-बादली, दिल्ली
IFSC-BARB0TRDBAD
(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।
पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

स्वास्थ्य सेवा में व्यापार और नैतिकता

चिकित्सा में मानवीयता के स्रोत : **ऋतुप्रिया** 4

चिकित्सा का अस्तित्ववादी चेहरा : **सौरभ टोडरिया** 6

जन स्वास्थ्य के दावे और हकीकत : **ए.के. अरुण** 8

स्वास्थ्य, चिकित्सा और मानवीय मूल्य : **मणीन्द्र नाथ ठाकुर** 10

मृत्यु की बदलती परिभाषा : **पद्मा शेषा सारदा लिंगराजु** 13

चिकित्साशास्त्र में मन की भूमिका : **राजेश हर्षवर्द्धन** 16

उपचार, बाजार, लोक और तन्त्र : **हरप्रीत कौर जस** 18

आयुर्वेद में शरीर और सहानुभूति : **पुष्या ए गौतम** 21

महामारी और भारतीय चिकित्सा सेवा प्रणाली : **सपना मिश्रा** 24

समाज, स्वास्थ्य, बीमारी और हत्या : **शिवांगी शंकर** 27

गाँधी का अस्पताल : **नारायण भाई भट्टाचार्य** 29

सृजनलोक

चार कविताएँ : **अरुणाभ सौरभ,** टिप्पणी : **विनय सौरभ,** रेखांकन : **शेखर** 30

राज्य

बिहार / जाति, जनगणना और सामाजिक न्याय : **राहुल यादुका** 32

हरियाणा / शम्भु बॉर्डर से सुप्रीम कोर्ट तक : **अजय सिंह** 35

मणिपुर / अवैध अफीम की खेती : **जमुना सुखाम** 37

स्तम्भ

तीसरी घण्टी / अब ब्रेख्त का राजनीतिक इस्तेमाल : **राजेश कुमार** 39

यत्र-तत्र / प्रतिवाद, प्रतिबद्धता और 'पहल' : **जय प्रकाश** 42

देशान्तर / सीरिया में सबेरा कितनी दूर? : **धीरंजन मालवे** 45

परती परिकथा / हिन्दी प्रदेश के मध्यवर्ग का अहंकार : **हितेन्द्र पटेल** 48

कविताघर / जरूरी है कि लहू आँख से टपके : **प्रियदर्शन** 51

विविध

साहित्य / भारतीय भाषा-दर्शन का नव-विकास : **विनोद शाही** 53

शहरनामा / शहर, साइकिल और जागरूकता : **राजेन्द्र रवि** 56

स्मरण / श्याम बेनेगल की याद : **राजीव रंजन प्रसाद** 59

सिनेमा / तलाक-त्रासदी से उत्सव तक का सफर : **रक्षा गीता** 62

पुस्तक समीक्षा / समता से ही आता है सामीप्य : **रणधीर कुमार गौतम** 65

लिये लुकाठी हाथ / असन्तुष्ट शिरोमणि : **गिरीश पंकज** 66

आवरण : **शशिकान्त सिंह**

अगला अंक : आधुनिकता, संस्कृति और बाजार

चिकित्सा में मानवीयता के स्रोत

ऋतुप्रिया

आवरण कथा

विभिन्न ज्ञान-परम्पराओं के आपसी संवाद की प्रक्रिया से ही सबसे कारगर दिशा मिलेगी। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि जिस विज्ञान और उसके उपयोग को हम 'आधुनिक चिकित्सा' कहते हैं वह आज 'पारम्परिक' (कन्वेन्शनल) कहलाती है क्योंकि पचास वर्ष से अधिक वह दुनिया की प्रमुख पद्धति मानी जाती रही है।

लेखिका चिकित्सक एवं जेएनयू में पब्लिक हेल्थ की पूर्व प्रोफेसर हैं।
+919313350186
ritupriyajnu@gmail.com

स्वास्थ्य, बीमारी और चिकित्सा का आधार हैं शारीरिक बनावट, रहन-सहन व कार्य करने का परिवेश, मानसिक व आध्यात्मिक परिस्थिति व इन सभी पर सामाजिक रिश्तों का प्रभाव। चिकित्सक जब इस नजर से मरीज और उसकी बीमारी को देखते हैं तब उनके सोच व व्यवहार में मानवीय स्वरूप उजागर होता है।

अपनी ज्ञान-परम्परा जनित समझ और उसका इस्तेमाल करते हुए मरीजों के इलाज के दौरान अनुभव से उसे हर मरीज के अनुकूल ढालना ही चिकित्सक की कला है, वह चाहे किसी पद्धति में पारंगत हो।

विमर्श के दो मूल प्रश्न हैं–

1. क्या आधुनिक विज्ञान ही एकमात्र स्वास्थ्य और चिकित्सा का ज्ञान स्रोत है?
2. क्या आधुनिक तकनीकी ही सभी बीमारियों का समग्र उपाय दे सकती है?

भिन्न सोचवालों पर विश्वास न करना चिकित्सा जगत में व्याप्त गुण है। जब कोविड शुरू हुआ तभी आयुष मन्त्रालय ने बचाव के लिए आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध व होमियोपैथी के नुस्खों पर नोट जारी किया। तब भी उसका मजाक उड़ाते हुए चिकित्सा विज्ञान की दुहाई दी गयी थी। यह तो सरकारी मान्यता प्राप्त ज्ञान-परम्पराएँ थीं जो लोगों के अनुभव जनित प्रमाण पर नहीं, अपने ज्ञान सृजन के तरीकों के आधार पर परामर्श दे रही थीं। आयुष मन्त्रालय और देश के व्यापक आयुष जगत के चिकित्सकों ने निन्दकों की परवाह न करते हुए कोविड के दौरान सेवाएँ भी प्रदान कीं और शोध करके प्रमाण सहित जानने की कोशिश की कि कौन से उपाय कारगर रहे। इन ज्ञान-परम्पराओं के कॉलेज डिग्री प्राप्त विशेषज्ञ हैं और मन्त्रालय हैं जो संसाधन जुटाकर शोध कर सके। परन्तु लोक-ज्ञान का क्या? उस पर कौन शोध करके प्रमाण जुटाने की जिम्मेवारी लेगा?

अभी हाल में एक कैंसर मरीज के साथ उनके परिवार के लोगों द्वारा डॉक्टरी इलाज के साथ खास उपचार-आहार और सकारात्मक मनःस्थिति बनाये रखने का तरीका अपनाया गया और जो चमत्कारी नतीजे आये उनका बयान किया गया। तब देश के प्रमुख अस्पतालों के कैंसर विशेषज्ञ इसके खिलाफ उठ खड़े हुए। स्पष्ट करने के बावजूद कि यह डॉक्टरी इलाज के साथ किया गया उपाय था, उसका विकल्प नहीं पूरक था, यह विरोध थमा नहीं। डॉक्टरों का कहना कि–''हम इसकी पुष्टि नहीं कर सकते क्योंकि इसकी कारगरता का वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है'', कुछ हद तक सही भी है क्योंकि मानव शरीर इतना जटिल है कि एक व्यक्ति के अनुभव से नहीं जान सकते कि किन कारणों से बीमारी दूर हुई। इन विशेषज्ञों में अनेक मानवीय चिन्ता के कारण ही विरोध कर रहे होंगे। परन्तु वह मानवीय गरिमा का ध्यान रखने के बजाय वैज्ञानिक पैमानों में विश्वास के कारण विरोध कर रहे हैं। हर व्यक्ति की गरिमा उसकी सोच व क्षमता का आदर करने पर आधारित होती है। अगर विशेषज्ञ मरीज की गरिमा को उसकी सोच से जोड़ते तो उसके अनुभव को कम-से-कम जाँचते तो। जब किसी और का प्रमाण नहीं है तो क्या उनकी जिम्मेवारी नहीं बनती कि वह इस पर शोध करके निष्पक्ष प्रमाण जुटाएँ? ऐसा न करना दर्शाता है कि लोगों के अनुभव पर उनका कोई भरोसा नहीं है।

दवा कम्पनियाँ जरूर इस ज्ञान को बटोर कर अपना पेटेण्ट लगा देती हैं और वह चिकित्सा जगत की दवा बन जाती है, वह सदियों के लोक-ज्ञान की देन है भुला दिया जाता है। ज्ञान-परम्पराओं को इस प्रकार ऊँच-नीच के क्रम में वर्गीकृत कर दिया गया है। राज्य तन्त्र व पूँजीवादी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था आधुनिक चिकित्सा-पद्धति को प्रमुख मानकर अन्य सरकारी मान्यता प्राप्त पद्धतियों को दोयम दर्जा देकर अपने में सँजो रही है। लोक-ज्ञान का अस्तित्व ही बीसवीं शताब्दी में ओझल-सा कर दिया गया था। परन्तु उसके अन्त तक आते-आते और अब 21वीं सदी में स्वास्थ्य समस्याओं के स्वरूप और

चिकित्सा-व्यवस्था के आकाश को छूते खर्च के कारण चिकित्सा-व्यवस्था द्वारा लोगों के स्व-चिकित्सा (सेल्फ-केयर) को बढ़ावा देने की शुरुआत हुई है।

कोई पद्धति इस समझ को समग्रता से अपने सिद्धान्त व विश्लेषण में सँजोये हुए है, कोई किसी पक्ष पर अधिक महत्त्व देती है। जैसे-जैसे उस पद्धति की तकनीकी विकसित होती है, चिकित्सकों की उस पर निर्भरता बढ़ती है, तो मानवीय पक्षों का महत्त्व कम होता चला जाता है। इसलिए, किसी भी ज्ञान-परम्परा के मूल सिद्धान्त व उसकी सामयिक कार्य-शैली और प्रथाएँ उसके चिकित्सकों की मानवीयता को बढ़ावा देती हैं या उसका ह्रास करती हैं।

आधुनिक विज्ञान और उस पर आधारित चिकित्सा-पद्धति के मूल सिद्धान्तों में है–

– शरीर और मानस अलग-अलग हैं।

– शरीर के विभिन्न अंग व तन्त्र मशीन की तरह चालित हैं।

– विज्ञान वस्तुनिष्ठता व मूल्य तटस्थता द्वारा अर्जित शोध आधारित ज्ञान है।

– विज्ञान के निष्कर्ष सार्वभौमिक हैं।

इनके चलते यह सर्वविदित तथ्य मान लिया गया कि आधुनिक विज्ञान ही 'सत्य' या हकीकत के सबसे करीब ज्ञान का स्रोत है, और वस्तुनिष्ठ हकीकत एक ही हो सकती है। इसलिए आधुनिक विज्ञान द्वारा मान्य या प्रमाणीकृत उपाय ही चिकित्सा के लिए सही हो सकती है।

साथ ही यह कि उसकी शोध परम्परा न्यूनीकरणवादी रही है, यानी किसी भी विषय को जानने के लिए उसकी सबसे छोटी इकाइयों को अलग-अलग करके समझा जाये, जैसे कि शरीर की विभिन्न कोशिकाओं और अंगों को।

अन्य पद्धतियाँ आधुनिक विज्ञान-परम्परा के न्यूनीकरणवाद के विपरीत–

–सम्पूर्ण व्यक्ति को समग्रता से समझना चिकित्सा का आधार मानती हैं।

–इस चर्चा के लिए प्रासंगिक दूसरा मूल फर्क है कि उनमें अन्तर्निहित है कि मरीज की भागीदारी से उसके स्वास्थ्य और उपचार को समझा जाये।

–तीसरा है कि विभिन्न जानकारी / ज्ञान के स्रोतों से अर्जित अपनी ज्ञान-परम्परा को स्वीकार करते हुए, उनमें संवाद और शास्त्रार्थ की परम्परा रही है। उनके अन्दर व अन्य पद्धतियों के सन्दर्भ में भी, ज्ञान बहुलता मान्य है।

इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन (आई.एम.ए.) के अध्यक्ष ने जिसे 'मिक्सोपैथी' कहकर नकार दिया, यह पद्धतियाँ उसे पूर्णता के लिए व्यावहारिक बहुलता मानती हैं। इन विशिष्टताओं के चलते इन पद्धतियों में मानवीयता बनाये रखने की गुंजाइश आधुनिक चिकित्सा परम्परा से ज्यादा है।

अन्य व्यावहारिक प्रश्न

अगर हम ज्ञान-परम्पराओं की बहुलता को मानते हैं, जो कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) ने, भारत में सरकार ने, और अपने जीवन में अधिकांश लोगों ने अपनाकर मान्य कर ही दिया है, तो अनेक व्यावहारिक प्रश्न उठते हैं–

– राज्य तन्त्र विभिन्न परम्पराओं को किस आधार पर मान्यता दे?

– उनका आपसी रिश्ता क्या हो?

– विभिन्न या दो परम्पराओं की चिकित्सा से आपस में नकारात्मक प्रभाव भी हो सकता है तो उसको कैसे जाना-समझा जाये?

– क्या एक ज्ञान-परम्परा से दूसरी कुछ सीख सकती है ताकि ज्यादा समग्र बन सकें?

इन प्रश्नों के उत्तर पिछली दो शताब्दियों के इतिहास में ढूँढ़े जा सकते हैं। परन्तु विभिन्न ज्ञान-परम्पराओं के आपसी संवाद की प्रक्रिया से ही सबसे कारगर दिशा मिलेगी। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि जिस विज्ञान और उसके उपयोग को हम 'आधुनिक चिकित्सा' कहते हैं वह आज 'पारम्परिक' (कन्वेन्शनल) कहलाती है क्योंकि पचास वर्ष से अधिक वह दुनिया की प्रमुख पद्धति मानी जाती रही है। अब 21वीं सदी का चिकित्सा विज्ञान जहाँ एक तरफ उसी लीक पर आगे बढ़ा है और सूचना तकनीकी व बायोटेक्नोलॉजी के सहारे कुलाचें भरने की तैयारी में है तो दूसरी ओर स्वास्थ्य की जटिलता से जूझने और उस पर चिकित्सा का आधार गढ़ने के प्रयास चल रहे हैं। हमारा विश्लेषण दर्शाता है कि पहली वर्तमान प्रवृत्ति द्वारा तकनीकी परिवर्तन से चिकित्सा जगत में मानवीयता को और क्षीण करने की ओर अग्रसर है वहीं दूसरी से मानवीयता जीवन्त रखने की सम्भावना है।

मानवीयता के स्रोत

राज्यतन्त्र कानून और नियन्त्रण के संस्थागत इन्तजाम द्वारा शक्तिशाली चिकित्सा तन्त्र पर लगाम लगाने के प्रयास करता है। समाज में इसके साथ ज्ञान की प्रगति का सांस्कृतिक तरीका है स्थापित ज्ञान को अन्य ज्ञान-धाराओं द्वारा चुनौती देना, उसकी कमजोरियों पर ध्यान आकृष्ट करना और वैकल्पिक नजरिया प्रस्तुत करना। उनके बीच संवाद भी होता है और प्रतिस्पर्धा भी।

इस सामाजिक प्रक्रिया के चलते चिकित्सा विज्ञान में विभिन्न नयी धाराएँ उसकी कमियों को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं। 'बायोसाईकोसोशल मॉडल' जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारकों के बीच की अन्तःक्रियाओं पर जोर देता है। 'सिस्टमज बायोलॉजी' जैविक प्रणालियों को प्रचलित जीव-विज्ञान से अलग हट के शारीरिक स्वास्थ्य और बीमारी का ज्यादा समग्र दृष्टिकोण बना रहा है। 'फ्रैकशनल मेडिसिन' सिस्टमज बायोलॉजी पर आधारित है और चिकित्सक व मरीज के बीच संवाद द्वारा आहार, जीवन-शैली इत्यादि में बदलाव द्वारा उपचार करती है। 'कॉम्प्लीमेण्टरी एण्ड इण्टीग्रेटिव मेडिसिन' द्वारा प्रचलित चिकित्सा-प्रणाली के साथ-साथ अन्य पद्धतियों का इस्तेमाल किया जाता है।

यह प्रयास दर्शाते हैं कि अनेक ज्ञान-परम्पराओं को साथ लाने की आवश्यकता है। प्रचलित चिकित्सा विज्ञान के मूल सिद्धान्त, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था जो लोकतान्त्रिक होने के बावजूद लोगों के बजाय पूँजी और राज्य तन्त्र को ही सशक्त करती है। सभी एक-दूसरे को पोषित करते हुए चिकित्सा जगत में मानवीयता की सम्भावना को कुन्द कर रहे हैं। यह तो चिकित्सा जगत में बची हुई सद्प्रवृत्ति है जो मानवीयता और मानवीय गरिमा को जीवित रखने के लिए संघर्षरत है। इस प्रवृत्ति से बहुआयामी संवाद करके उसको बल प्रदान करने की आवश्यकता है।

■

आवरण कथा

चिकित्सा का अस्तित्ववादी चेहरा

सौरभ टोडरिया

दार्शनिक देकार्त ने मन और शरीर को अलग-अलग माना और शरीर को एक मशीन की तरह समझा, जिसे भौतिक और रासायनिक नियमों के आधार पर चलना है, जबकि मन को सोचने-समझने वाला स्वतन्त्र आयाम बताया। इस विचार ने चिकित्सा को शरीर पर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया, जिससे चिकित्सा ने बेशक बड़ी तरक्की की—ऑपरेशनों के जरिये शरीर के अंग बदलना, नयी दवाइयों से कीटाणुओं को मारना, जटिल बीमारियों का पता लगाना सब सम्भव हो पाया। लेकिन इसी मॉडल की वजह से भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू कई बार पीछे छूट जाते हैं।

बीमारी को हम अक्सर शरीर में होने वाली किसी गड़बड़ी, संक्रमण या अस्वस्थता के रूप में समझते हैं। जब कोई व्यक्ति बीमार होता है, तो हमारा पहला कदम होता है कि हम जाँच करवाएँ, खून की रिपोर्ट देखें, एक्स-रे या एम. आर.आई. जैसे टेस्ट करवाएँ और फिर डॉक्टर से दवा या इलाज लें। यह तरीका स्वाभाविक लगता है, क्योंकि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने शरीर की रचना और कार्य-प्रणाली को बहुत गहराई से समझ लिया है। हालाँकि, बीमारी को सिर्फ शरीर की समस्या मान लेने से उस इनसान के पूरे अनुभव को अनदेखा किया जा सकता है। बीमारी के कारण न सिर्फ शरीर पर, बल्कि मन, भावनाओं और रिश्तों पर भी असर पड़ता है। जब हम स्वस्थ होते हैं, तो अपने शरीर को लेकर सजग नहीं रहते, लेकिन ज्यों ही हम बीमार पड़ते हैं, हमारा ध्यान उसी तकलीफ या थकान पर टिक जाता है।

पश्चिमी चिकित्सा के विकास में 17वीं शताब्दी के दार्शनिक देकार्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने मन और शरीर को अलग-अलग माना, शरीर को एक मशीन की तरह समझा, जिसे भौतिक और रासायनिक नियमों के आधार पर चलना है, जबकि मन को सोचने-समझने वाला स्वतन्त्र आयाम बताया। इस विचार ने चिकित्सा को शरीर पर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया, जिससे चिकित्सा ने बेशक बड़ी तरक्की की—ऑपरेशनों के जरिये शरीर के अंग बदलना, नयी दवाइयों से कीटाणुओं को मारना, जटिल बीमारियों का पता लगाना सब सम्भव हो पाया। लेकिन इसी मॉडल की वजह से भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू कई बार पीछे छूट जाते हैं। मरीज की लैब रिपोर्ट या कुछ मिनटों की बातचीत में डॉक्टर बीमारी की दवा लिख देते हैं, पर मरीज के भीतर चल रही उथल-पुथल पर ध्यान देना सम्भव नहीं हो पाता।

अस्तित्ववादी दर्शन में बीमारी को इनसान के समूचे अस्तित्व को प्रभावित करने वाली स्थिति के रूप में देखा जाता है। मॉरिस मर्लो-पोण्टी ने कहा कि हम सिर्फ शरीर 'रखते' नहीं, बल्कि हम शरीर 'हैं।' दुनिया को हम अपने शरीर के जरिये ही देखते और महसूस करते हैं। जब शरीर अस्वस्थ होता है, तो रोजमर्रा की गतिविधियों में रुकावट आती है और मन भी बेचैन हो जाता है। इसीलिए अगर किसी को घुटनों में दर्द हो, तो उसे हर कदम पर सावधान रहना पड़ता है और यह चिन्तन भी सताता रहता है कि कहीं ज्यादा तकलीफ न हो जाये। यह चिन्ता और दिक्कत केवल जैविक नहीं होती; उसमें मनोवैज्ञानिक और सामाजिक डर भी मिल जाते हैं, जैसे दूसरों पर निर्भरता या काम में मुश्किल आना।

बीमारी को समझने के लिए रोग (डिजीज) और बीमारी (इलनेस) के बीच अन्तर करना मददगार होता है। रोग वह जैविक अवस्था है, जिसे डॉक्टर जाँच कर परिभाषित करते हैं—जैसे मधुमेह, कैंसर या कोविड-19। दूसरी ओर, बीमारी मरीज का निजी अनुभव है, जिसमें उसके डर, तनाव, सामाजिक और

लेखक आई.आई.टी. हैदराबाद, मानविकी केन्द्र में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक हैं।

+91 72070 54375

saurabhtodariya.jnu@gmail.com

आर्थिक समस्याएँ, रिश्तों की उलझनें सब शामिल होती हैं। उदाहरण के लिए, किसी को कोविड-19 हो जाये, तो डॉक्टर बुखार, ऑक्सीजन स्तर और वायरस की मौजूदगी की बात करेंगे। लेकिन मरीज के लिए यह महज इन लक्षणों तक सीमित नहीं है; उसे अकेलेपन का डर, परिवार को संक्रमित कर देने की चिन्ता, नौकरी का संकट या भविष्य की अनिश्चितता भी महसूस हो सकती है। ये तमाम भावनात्मक पहलू रिपोर्टों में दर्ज नहीं होते, पर मरीज की तकलीफ का बड़ा हिस्सा होते हैं।

अस्तित्ववादी दार्शनिक जाँ-पॉल सार्त्र ने चेतना को हमेशा 'मेरी चेतना' कहकर रेखांकित किया। हर इनसान अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से दुनिया को देखता है, इसलिए बीमारी भी सबके लिए अलग तरह का अनुभव हो सकती है। एक ही रोग के दो मरीज अपनी-अपनी परिस्थितियों की वजह से इसे भिन्न तरीके से महसूस कर सकते हैं–किसी को सामाजिक बहिष्कार का डर होगा, तो किसी को अपने भविष्य के सपने टूटने का दुःख। मर्लो-पोण्टी के 'जीवित शरीर' के विचार से समझें, तो हमारा शरीर दो रूपों में मौजूद है–एक जिसे बाहर से मापा-देखा जा सकता है, और दूसरा जिसे हम अन्दर से जीते हैं। बीमार पड़ने पर यही शरीर अचानक हमारी चेतना के केन्द्र में आ जाता है। माइग्रेन हो, तो साधारण रोशनी भी चुभने लगती है। गठिया हो, तो सीढ़ियों की चढ़ाई पहाड़ चढ़ने जैसी लगने लगती है। शरीर की यह बदली हुई स्थिति हमारे मन को भी निरन्तर जागरूक बनाये रखती है कि हम बीमार हैं।

हावी कैरेल ने बीमारी को एक बड़े व्यवधान की तरह देखा है, जिसमें जीवन की निरन्तरता टूटती है और शरीर का पारदर्शी होना समाप्त हो जाता है। अब हम शरीर के हर कष्ट को महसूस करते हैं, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि शरीर पर भरोसा भी कम होने लगता है। कभी-कभी हमें लगता है कि हमारा शरीर किसी भी पल धोखा दे सकता है, हम सामान्य काम करने से डरने लगते हैं। बीमार होने पर कई लोगों को अपने भविष्य का डर सताता है–क्या पुरानी जिन्दगी दोबारा मिल पाएगी? क्या हमारे रिश्ते या हमारी नौकरी सुरक्षित है? इन सवालों से पैदा हुआ तनाव चिकित्सकीय आँकड़ों में नहीं दिखता, पर इनसान की तकलीफ को गहरा बना देता है।

गम्भीर या लाइलाज बीमारियों में यह अस्तित्ववादी संकट और भी बढ़ जाता है। मार्टिन हाइडेगर के अनुसार, हम समयबद्ध प्राणी हैं, जो हमेशा आगे की ओर देखकर जीते हैं। किन्तु अगर कोई बीमारी हमारे भविष्य को छोटा कर दे, तो यह समयबद्धता हमारे सामने विकट चुनौती बनकर खड़ी हो जाती है। बहुत से लोग अपने जीवन को नये सिरे से परखने लगते हैं–क्या वह सपने पूरे कर पाएँगे? क्या रिश्तों में कोई अनकही बात कहनी रह गयी है? किसी के लिए यह खोज उन्हें आध्यात्मिक रास्तों पर ले जाती है, किसी के लिए रचनात्मक कामों में, तो कोई गहरे अवसाद में भी जा सकता है। यह सब अस्तित्ववादी अनुभव के आयाम हैं, जिन्हें डॉक्टर की रिपोर्ट में जगह नहीं मिलती, फिर भी वे बेहद महत्त्वपूर्ण हैं।

आर्थर फ्रैंक ने बीमारी के अनुभव को समझने के लिए तीन तरह की कहानियाँ बतायी हैं। पहली 'कैओस नेरेटिव,' जिसमें सब कुछ बिगड़ा हुआ और डरावना लगता है, कोई उम्मीद नजर नहीं आती। दूसरी 'क्वेस्ट नेरेटिव,' जिसमें इनसान बीमारी से जूझते हुए जीवन में नया अर्थ ढूँढ़ता है। तीसरी 'रेस्टिट्यूशन नैरेटिव,' जिसमें उसे लगता है कि वह फिर से सब ठीक करके पुरानी स्थिति में लौट जाएगा। लाइलाज बीमारियों में अन्तिम वाली कहानी अक्सर ढह जाती है, और इनसान को अपने जीवन की नींव नये सिरे से तैयार करनी पड़ती है। ये कहानियाँ सिर्फ मन का खेल नहीं, बल्कि अस्तित्ववादी चुनौतियों से निपटने के तरीके भी हैं।

इन अनुभवों को समझने के लिए चिकित्सा में 'मेडिकल ह्यूमैनिटीज' नाम का नया क्षेत्र उभरा है। इसमें साहित्य, कला, इतिहास, दर्शन और सामाजिक विज्ञानों की मदद ली जाती है, ताकि भविष्य के डॉक्टर यह जान पाएँ कि मरीज सिर्फ एक 'केस' नहीं, बल्कि एक इनसान है, जिसकी अपनी कहानी, भावना और सामाजिक सन्दर्भ है। ऐसा होने पर डॉक्टर मरीज की बात ध्यान से सुनते हैं, उसकी चिन्ताओं और डर को समझते हैं। यह रुझान न सिर्फ मरीज की मदद करता है, बल्कि डॉक्टर को भी सन्तुष्टि देता है कि वह इनसान के समग्र दुःख को कम करने में मदद कर रहा है, न कि केवल शरीर के एक हिस्से की मरम्मत-भर कर रहा है।

बीमारी को सिर्फ दवाइयों और सर्जरी से जोड़कर देखना कई बार अधूरा साबित होता है। दवा और ऑपरेशन जरूरी हैं, लेकिन उतना ही जरूरी है मरीज के मन और भावनाओं की देखभाल। यदि कोई कैंसर मरीज कीमोथेरेपी तो ले रहा है, पर डर और तनाव से जूझ रहा है, तो उसे काउंसलिंग या किसी सहायक समूह की जरूरत पड़ सकती है। परिवार की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कई बार इलाज लम्बा चलता है और आर्थिक-सामाजिक दबाव बढ़ता है। रोग शरीर का है, पर उसका असर रिश्तों और रोजमर्रा की जिन्दगी पर भी पड़ता है।

आधुनिक चिकित्सा शिक्षा में नैरेटिव मेडिसिन और मेडिकल 'ह्यूमैनिटीज' को पढ़ाये जाने की माँग उठ रही है, ताकि नयी पीढ़ी के डॉक्टर अपने मरीजों की पीड़ा, उनके डर और उनकी कहानी सुनकर अधिक संवेदनशील तरीके से इलाज करें। इससे इलाज के परिणाम बेहतर हो सकते हैं, क्योंकि मरीज को भावनात्मक सहयोग भी महसूस होता है। हालाँकि, अस्पतालों में समय की कमी, मरीजों की भीड़ और आर्थिक दबाव जैसी चुनौतियाँ हैं, पर धीरे-धीरे कुछ स्थानों पर यह बदलाव हो भी रहा है।

अन्त में यह समझना जरूरी है कि बीमारी महज जैविक घटना नहीं है; यह इनसान के अस्तित्व को झकझोर देने वाला अनुभव भी हो सकती है। यह शरीर, मन और सामाजिक परिस्थितियों का मिला-जुला असर है। कैर्टेसियन द्वैतवाद ने भले ही शरीर और मन को अलग-अलग करके देखा था, पर अब हमें यह एहसास हो रहा है कि इस द्वैत ने बीमारी के कई मानवीय पहलुओं को अनदेखा कर दिया। बीमारी के दौरान हम सिर्फ एक शरीर की टूट-फूट ही नहीं झेलते, बल्कि हम डर, अनिश्चितता, आत्मविश्वास में कमी और कभी-कभी अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों का सामना करते हैं। किसी भी समग्र और मानवीय इलाज के लिए जरूरी है कि डॉक्टर, परिवार और समाज मिलकर मरीज की पूरी परिस्थिति को समझें, उसकी कहानी सुनें और उसे यह भरोसा दिलाएँ कि वह अकेला नहीं है। इस तरह हम बीमारी के जटिल अनुभव में थोड़ी राहत और आशा ला सकते हैं, इनसान को फिर से जीने का हौसला दे सकते हैं, और चिकित्सा को एक अधिक मानवीय स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

■

जन स्वास्थ्य के दावे और हकीकत

ए.के. अरुण

आवरण कथा

हमारे यहाँ जो स्वास्थ्य तन्त्र मौजूद है, उसमें अनुदानों का अभाव है, वह पर्याप्त और नियमित नहीं है, भयंकर रूप से अक्षम है और बहुत महँगा है क्योंकि लोगों की आय उसके हिसाब से बेमेल है। सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में पैसों का टोटा है, लोगों की भीड़ है और कुशल कर्मियों की कमी है। इसके अलावा ये सेवाएँ नागरिकों के प्रति पर्याप्त जवाबदेह भी नहीं हैं। स्वास्थ्य सेवाओं में निजी क्षेत्र की संलग्नता ने लागत को बढ़ाने का काम किया है और इसके चलते कई लोग अलग-थलग पड़ जाते हैं।

देश की समग्र तरक्की और लोगों के विकास के सबसे अच्छे सूचकांकों में एक जन स्वास्थ्य का होता है। यह किसी देश के नागरिकों के अतीत, वर्तमान और भविष्य का आईना होता है। फिलहाल हमारी आबादी डेढ़ अरब के आस-पास है और सालाना 1.8 करोड़ की दर से यह बढ़ रही है। दुनिया के भौगोलिक क्षेत्र का महज 2.4 फीसदी भारत दुनिया की आबादी के 16 फीसदी लोगों को अपने यहाँ रखे हुए है। इण्टरनेशनल डायबेटिक फेडरेशन के अनुसार भारत में 5.08 करोड़ से ज्यादा लोग मधुमेह से ग्रस्त हैं और अनुमान के मुताबिक 2025 तक यह संख्या बढ़कर सात करोड़ हो जाएगी (इण्डियन डायबिटीज रिसर्च फाउण्डेशन)। इतना ही नहीं, इस वर्ष तक दुनिया के 65 फीसदी दिल के मरीज भारत से ही होंगे। कुछ रोगों की निरन्तर जारी तीव्रता (एचआईवी/एड्स, मलेरिया, डेंगू, हेपटाइटिस), कुछ दूसरे संक्रामक रोगों का उभार (तपेदिक, प्लेग, विरुलेण्ट हैजा, मेनिंजायटिस) और नये रोगों का उभार (सार्स, एशियन बर्ड फ्लू, मैड काउ डिजीज, फुट एण्ड माउथ डिजीज) पहले ही कमजोर स्वास्थ्य प्रणालियों पर और ज्यादा दबाव डाल रहा है जिसकी जरूरत के मुताबिक प्रतिक्रिया नहीं दी जा रही है। असंचारी रोगों, दिमागी रोगों तथा हादसों और हिंसा से पैदा होने वाली अशक्तताएँ इस समस्या को और गहरा कर रही हैं (डब्लू.एच.ओ., 2022 और स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मन्त्रालय, 2023)।

ग्रामीण भारत के लोगों और विशेष रूप से आदिवासी आबादी की स्वास्थ्य आदि को लेकर अपनी विशिष्ट आस्थाएँ और आचार-व्यवहार हैं। कुछ जनजातीय समूह अब भी मानते हैं कि कोई रोग हमेशा बुरी रूहों या किसी वर्जना को तोड़ने के चलते होता है। इसीलिए वे रोगों का इलाज धार्मिक और जादुई तरीकों से करते हैं। दूसरी ओर ग्रामीण लोग आज भी ऐसे परम्परागत चिकित्सीय तरीके अपनाते आ रहे हैं जो कहीं लिखित नहीं हैं, साथ ही औषधि विज्ञान की स्वीकृत सांस्कृतिक प्रणालियों को भी वे मानते हैं जैसे आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, प्राकृतिक चिकित्सा और होमियोपैथी, जिससे सेहत दुरुस्त रखी जा सकती है और रोगों से बचा जा सकता है। हुआ यह है कि मानवीय और भौतिक संसाधनों के जबरदस्त दोहन के लिए जिस तरह सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक मोर्चों पर हमले बढ़े हैं, उन्होंने कुदरती तौर पर स्वस्थ वातावरण के सामने खतरे पैदा कर दिये हैं। इसके अलावा गाँवों में स्वास्थ्यगत समस्याओं की बुनियादी प्रकृति का लेना-देना स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता के अभाव, खराब मातृ-शिशु स्वास्थ्य सेवाओं और पेशागत जोखिमों से भी है। अधिकतर मौतें जो रोकी जा सकती थीं, वे संक्रमण और संचारी, परजीवी व श्वास-सम्बन्धी रोगों से होती हैं। गाँवों में संक्रामक रोगों के चलते लोग जल्दी अशक्त हो जाते हैं। जलजनित संक्रमण भारत में 80 फीसदी बीमारियों की

लेखक जन स्वास्थ्य वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त होमियोपैथिक चिकित्सक हैं।

+919868809602

docarun2@gmail.com

जड़ में है जिसके चलते दुनिया में मरने वाला हर चौथा व्यक्ति भारतीय होता है।

भारत में स्वास्थ्य पर कुल व्यय अनुमानतः जी.डी.पी. का 5.2 फीसदी है जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यय पर निवेश केवल 0.9 फीसदी है, जो गरीबों और जरूरतमन्द लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिहाज से काफी कम है जिनकी संख्या कुल आबादी का करीब तीन-चौथाई है। सार्वजनिक स्वास्थ्य बजट का बड़ा हिस्सा परिवार कल्याण पर खर्च होता है। भारत की 75 फीसदी आबादी गाँवों में रहती है फिर भी कुल स्वास्थ्य बजट का केवल 10 फीसदी इस क्षेत्र को आवण्टित है। एक अध्ययन के अनुसार पी.एच.सी. का 85 फीसदी बजट कर्मचारियों के वेतन में खर्च हो जाता है। नागरिकों को स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने में प्रतिबद्धता का अभाव स्वास्थ्य अधिरचना की अपर्याप्तता और वित्तीय नियोजन की कम दर में परिलक्षित होता है, साथ ही स्वास्थ्य सम्बन्धी जनता की विभिन्न माँगों के प्रति गिरते हुए सहयोग में यह दिखता है। यह प्रक्रिया खासकर अस्सी के दशक से बाद शुरू हुई जब उदारीकरण और वैश्विक बाजारों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था खुल गयी। चिकित्सा सेवा और संचारी रोगों का नियन्त्रण जनता की प्राथमिक माँगों और मौजूदा सामाजिक-आर्थिक हालात दोनों के ही मद्देनजर चिन्ता का अहम् विषय है। कुल सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यय के साथ इन दोनों उपक्षेत्रों में भी आवण्टन 2010 और 2020 के दशकों में घटता हुआ दिखा। चिकित्सीय शोध के क्षेत्र में भी ऐसा ही रुझान दिखता है। कुल शोध अनुदानों का 20 फीसदी कैंसर पर अध्ययनों को आवण्टित किया जाता है जो कि 1 फीसदी से भी कम मौतों के लिए जिम्मेदार है जबकि 20 फीसदी मौतों के लिए जिम्मेदार श्वास-सम्बन्धी रोगों पर शोध के लिए एक फीसदी से भी कम राशि आवण्टित की जाती है।

सरकारी क्षेत्र की बढ़ती प्रभावहीनता के चलते गरीबों में बढ़ता मोहभंग और हताशा उन्हें निजी क्षेत्र की ओर धकेल रही है जिसके कारण वे कर्ज लेकर भारी राशि व्यय करने को मजबूर हैं या फिर वे 'झोलाछाप' लोगों के रहमो-करम पर छोड़ दिये जाते हैं। अनुमान भिन्न हो सकते हैं, लेकिन सरकार 20-30 फीसदी से ज्यादा व्यय स्वास्थ्य पर नहीं करती है। निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य क्षेत्र पर व्यय में हिस्सेदारी 1976 में 14 फीसदी थी तो 2020 में बढ़कर 72 फीसदी हो गयी। भारत के करीब 67 फीसदी अस्पताल, 63 फीसदी दवाखाने और 78 फीसदी डॉक्टर निजी/कॉरपोरेट क्षेत्र में हैं। चिकित्सीय आचारों के बढ़ते निजीकरण और व्यावसायीकरण तथा औषधि व उपकरण निर्माताओं के साथ उनके रिश्तों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। विश्व स्वास्थ्य संगठन करीब 130 अनिवार्य औषधियों की सिफारिश करता है लेकिन भारतीय बाजार में 4000 से ज्यादा औषधियाँ उपलब्ध हैं। इसके चलते स्वास्थ्य सेवाओं को खरीद पाना ग्रामीण गरीबों की क्षमता के दायरे से बाहर चला गया है। हाल के दो अखिल भारतीय सर्वेक्षणों (एन.एस.एस.ओ. का 46वाँ चरण और एन.सी.ए.ई.आर., नयी दिल्ली) ने दिखाया है कि दहेज-प्रथा के बाद चिकित्सीय उपचार ग्रामीण कर्जदारी का दूसरा सबसे अहम् कारण है।

कोरोना वायरस संक्रमण ने 'वैश्विक स्वास्थ्य मिथक' की पोल खोलकर रख दी है। पूरी दुनिया ने देख लिया कि कहीं भी 'मुकम्मल सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था' नहीं हैं। इस वैश्विक महामारी ने बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों और वैश्विक स्वास्थ्य व्यवस्था का दावा करने वाले चिकित्सा तन्त्र के मुखौटे को भी उतारकर नंगा कर दिया है। ऐसे में अब दुनिया-भर में इनसानों और इनसानियत की फिक्र करने वालों को लगने लगा है कि उनकी तरफ से एक 'जीवन के लिए जनघोषणा-पत्र' तैयार हो जो वैश्विक महामारी के दौर में पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए एक उचित वातावरण बना सके।

कोविड-19 जैसे विश्वव्यापी स्वास्थ्य संकट ने पूरी दुनिया में 'विकास' के भ्रम को जाहिर कर दिया है। लोग समझ चुके हैं कि तकनीक और भौतिक संसाधनों की प्रचुरता मात्र ही विकास नहीं कहलाते। मानव-जीवन, जीव-जन्तु और प्रकृति को सुरक्षित किये बगैर सारे कर्म छलावा एवं धोखा हैं। विकास का तर्क जीवन और पर्यावरण को बेहतर बनाने से जुड़ा है लेकिन कोरोना काल में दुनिया ने देख लिया कि चन्द मुनाफाखोर कम्पनियाँ जीवन रक्षा के नाम पर अपना प्रोडक्ट बेचने के लिए डर पैदा करती हैं और फिर बड़ी कीमत पर उस डर से बचाने का स्वाँग करती हैं। कथित विकास के इस भ्रम से निकलकर अब दुनिया-भर में अमन और जीवन-पसन्द लोगों में यह चिन्तन जारी है कि जीवन का सौदा करने वाले व्यापार को आम लोग खारिज करें और एक बेहतर मानवीय समाज रचना के लिए प्रयास करें। इसके लिए निम्नलिखित कुछ बिन्दु मैं यह सुझाव के तौर पर प्रस्तुत कर रहा हूँ–

1. विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) को वास्तविक रूप से वैश्विक स्वास्थ्य संगठन के रूप में दुनियाभर की सरकारें स्वीकार करें और इसके लिए सर्वमान्य मानवीय जीवन रक्षा के दिशा-निर्देश सार्वजनिक किये जाएँ।

2. मानव, जीवन एवं प्रकृति की रक्षा को दुनिया-भर की सरकारें और सार्वजनिक संस्थाएँ सर्वोपरि जिम्मेवारी के रूप में स्वीकार करें।

3. स्वास्थ्य रक्षा एवं उपचार को सेवा का दर्जा दिया जाये तथा इसके मुनाफे को गैर-संवैधानिक आपराधिक घोषित किया जाये। यह घोषणा की जाये कि स्वास्थ्य रक्षा एवं उपचार का व्यवसाय नहीं किया जा सकता और इसे जन-धन व हर जीव-जन्तु को उपलब्ध कराना सबकी जिम्मेदारी है।

4. चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के कार्य में लगे सभी लोगों को यह बताया जाये कि चिकित्सा सेवा है व्यापार नहीं। इसके लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन एक दिशा-निर्देश जारी करे और दुनिया के चिकित्सक उसे स्वीकार करें।

5. दुनिया में कहीं भी कभी भी किसी व्यक्ति की चिकित्सा के अभाव में हुई मृत्यु को सांस्थानिक हत्या माना जाये और उसकी जवाबदेही तय की जाये।

6. मानव जीवन, जीव-जन्तु व वनस्पति के रक्षा के लिए दुनिया में उपलब्ध सभी संसाधन, ज्ञान व प्रणाली को समान मानकर उसका उपयोग किया जाये। चिकित्सा या उपचार की सभी वैज्ञानिक प्रणाली को समान अवसर देकर यह सुनिश्चित किया जाये कि अभाव व नकारात्मकता की वजह से किसी का जीवन समाप्त न हो पाये।

■

स्वास्थ्य, चिकित्सा और मानवीय मूल्य

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

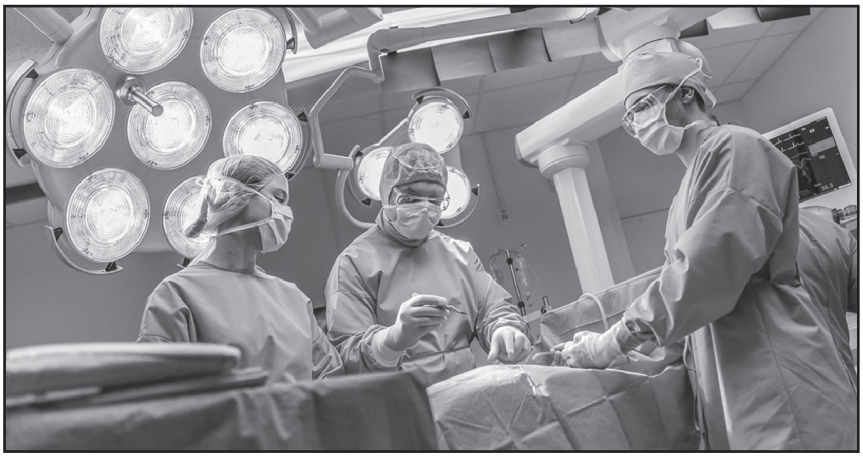

इसमें कोई शक नहीं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विकास ने मनुष्य को सुख-सुविधाओं के चरम पर पहुँचा दिया है। ज्ञान के हर क्षेत्र में इनसान ने बड़ी सफलता पायी है। लेकिन पिछले कुछ दशकों में दुनिया के बड़े दार्शनिक कहने लगे हैं कि आधुनिकता के इस ज्ञानमीमांसा ने मुनष्यता के लिए संकट पैदा कर दिया है। सिनेमा, साहित्य, कला, दर्शन लगभग हर क्षेत्र में इस बात की गूँज पायी जा रही है कि आधुनिक ज्ञानमीमांसा की सीमाएँ हैं और हमें उससे आगे निकलने की जरूरत है।

स्वास्थ्य, चिकित्सा और मानवीय मूल्यों के अन्तःसम्बन्धों पर बात शुरू करने से पहले एक घटना का जिक्र प्रासंगिक होगा। एक बुजुर्ग व्यक्ति को लेकर मैं एक वरिष्ठ हृदय रोग विशेषज्ञ से मिलने गया। मैंने उनसे बताया कि मरीज का रक्तचाप पिछले कुछ दिनों से हमेशा बढ़ा रहता है और उसके लिए दी जाने वाली तीन दवाओं का कोई खास असर दिख नहीं रहा है। डॉक्टर ने सहजता के साथ कहा कि यही स्थिति स्वयं उनकी भी है और दवाइयों का असर दिखता नहीं है। लेकिन आश्चर्य तो तब हुआ जब उन्होंने कहा कि पता नहीं जो दवाइयाँ हम खा रहे हैं वे असली भी हैं या नहीं? यही बात मुझे केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य विभाग के एक और चिकित्सक ने कही थी। उन्होंने बताया कि इस सरकारी अस्पताल में हर महीने बहुत-सी दवाइयों को हटाना पड़ता क्योंकि उनके नकली होने की सम्भावना होती है। सुना है कि दुनिया-भर में दवाई माफिया का राज शुरू हो गया है। कुछ लोगों का तो कहना है कोविड-19 के पूरे प्रकरण में उस माफिया का भी बड़ा हाथ था। बात तब और गम्भीर हो गयी जब मैंने चिकित्सक महोदया से उनके गुरु रह चुके डॉक्टर मनचन्दा के उस प्रयोग के बारे में पूछा जो मरीजों के जीवन-पद्धति को बदलकर उच्च रक्तचाप जैसी बीमारियों को ठीक करने से जुड़ा था। उन्होंने सूचना दी कि शायद उस प्रयोग को चलाने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की हत्या हो गयी है। यह सूचना मेरे लिए एक हादसा बन गयी जब उन्होंने उसमें जोड़ा कि इस हत्या के पीछे दवाई माफिया का हाथ कहा जा रहा है। डॉक्टर से यह बातचीत स्वास्थ्य और चिकित्सा के बदलते अन्तःसम्बन्धों का संकेत देती है।

मैं इस लेख में आधुनिक चिकित्साशास्त्र से जुड़े संस्थानों के अनुभव के आधार पर इस ज्ञान की राजनीति को समझना और उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। इस सन्दर्भ में यह बताना जरूरी है कि इस आलोचना का मतलब विरोध नहीं है। बल्कि इस ओर ध्यान आकृष्ट करना है कि आधुनिकता ने जिस ज्ञान का सृजन किया है उसकी कुछ आधारभूत समस्याएँ हैं। उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण है मनुष्य के भावनात्मक पक्ष को पूरी तरह से खारिज करना। पश्चिमी आधुनिकता के ज्ञानमीमांसा ने मन और शरीर को यथार्थ के दो भागों में बाँट दिया ताकि विज्ञान के प्रति धार्मिक प्रतिरोध को खत्म किया जा सके और विज्ञान का विकास हो सके। धार्मिक विचार था कि शरीर भगवान का बनाया हुआ है और उसमें किसी तरह के शल्य की अनुमति नहीं दी जा सकती है। यथार्थ को भौतिक और आध्यात्मिक दो भागों में बाँटकर यह कहा गया कि पहला तो विज्ञान का विषय है और दूसरा धर्म का। इसका एक परिणाम तो यह निकला कि पश्चिम में विज्ञान का खूब विकास हुआ लेकिन उनका विज्ञान आत्माविहीन हो गया।

लेखक वरिष्ठ समाजशास्त्री और जे.एन.यू. में प्राध्यापक हैं।
+919968406430
manindrat@gmail.com

उनमें मानवीय मूल्यों का महत्त्व घटता चला गया।

इसमें कोई शक नहीं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विकास ने मनुष्य को सुख-सुविधाओं के चरम पर पहुँचा दिया है। ज्ञान के हर क्षेत्र में इनसान ने बड़ी सफलता पायी है। लेकिन पिछले कुछ दशकों में जिजेक और रॉय भास्कर समेत दुनिया के बड़े दार्शनिक कहने लगे हैं कि आधुनिकता के इस ज्ञानमीमांसा ने मुनष्यता के लिए संकट पैदा कर दिया है। सिनेमा, साहित्य, कला, दर्शन लगभग हर क्षेत्र में इस बात की गूँज पायी जा रही है कि आधुनिक ज्ञानमीमांसा की सीमाएँ हैं और हमें उससे आगे निकलने की जरूरत है। उत्तराधुनिकता ने इसे एक स्तर पर खारिज किया है लेकिन उसकी भी सीमाएँ हैं। सवाल है कि आधुनिकता के महत्त्वपूर्ण अवदानों को स्वीकार करते हुए उससे आगे कैसे निकला जा सकता है? भारत के चिकित्सा संस्थाओं में यदि मानवीयता को ज्ञान के साथ नहीं पिरोया गया तो पूँजीवादी लालच के साथ मिलकर ये शोषण के अड्डों के रूप में विकसित हो जाएँगे।

अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर इन संस्थाओं को कहाँ तक समझा जा सकता है? यह सवाल उठाया जा सकता है खासकर उन लोगों के द्वारा जो समाजशास्त्र में वैज्ञानिक शोध प्रणालियों के प्रवक्ता हैं। मेरा मानना है कि औपचारिक शोध प्रणालियाँ अक्सर शक्तिकामी समाजशास्त्र के लिए उपयोगी होती हैं जिससे प्राप्त ज्ञान का उपयोग राज्य समाज पर नियन्त्रण करने के लिए करता है। जरूरत है इस बात की कि लोग भोगे हुए यथार्थ के आधार पर भी यथार्थ को समझ सकें। इस तरह के ज्ञान को हम मुक्तिकामी समाजशास्त्र भी कह सकते हैं। चिकित्सा-व्यवस्था के बारे में खासकर लोगों के अनुभवों के आधार पर जो कहानी बनती है उससे व्यवस्था के दर्शन को भी समझा जा सकता है और व्यवस्था में आयी खामियों को भी। इसलिए जरूरी है कि लोगों के अनुभवों को संकलित कर उसका विश्लेषण किया जाये। आधुनिक ज्ञान की संस्थाओं में मानवीयता के अभाव के कारण चिकित्सा का प्रभाव कम हो जाता है। शरीर के ठीक होने के लिए मन का ठीक होना भी जरूरी है।

बात अस्सी के आखिरी वर्षों की है। उन दिनों मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहा था। मेरे पिता जी की तबियत खराब हो गयी और बिहार के चिकित्सक अँधेरे में तीर चलाते रहे। कुछ समय के बाद उन्हें दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में लाया गया। चिकित्सा प्रारम्भ हुई और जाँच का सिलसिला शुरू हुआ। सभी जाँच सही आ रहे थे। उनकी समस्या थी कि महीने में एक बार उनके शरीर का तापमान सौ के करीब हो जाया करता था। उसी समय हमें पता चला कि तापमान यदि ज्यादा हो तो खास बात नहीं है लेकिन यदि लगातार कम तापमान होता रहे तो ज्यादा खतरनाक है। लगभग दो महीनों के बाद डॉक्टरों ने कहा कि उन्हें होजकिन्स लिम्फोमा नामक बीमारी हो गयी है। यह बीमारी तब बहुत गम्भीर मानी जाती थी। लेकिन तमाम तरह की जाँच और बायोप्सी के बाद भी यह बात प्रामाणिक तौर पर नहीं कही जा सकती थी। डॉक्टरों का जो दल उन्हें देखने आता था उनके आपस की बहस को सुनकर यह बात स्पष्ट होती थी कि उनमें सहमति नहीं है। एक कनीय डॉक्टर जिनका शोध इस विषय पर था, का कहना था कि यह बिल्कुल वही बीमारी है।

उत्सुकतावश मैंने संस्थान के पुस्तकालय में जाकर उपलब्ध सामग्रियों को संकलित किया और दो तीन-दिनों में उन्हें पढ़कर पूरा नोट तैयार कर लिया। बीमारी की थोड़ी-बहुत समझ मुझे होने लगी थी। भाषा की भी थोड़ी पकड़ हो गयी थी। अगली बार जब डॉक्टरों की टीम वहाँ आयी मैंने कुछ सवाल किये। वरीय रेजीडेण्ट डॉक्टर कुछ असहज और नाराज भी हुए। मेरे बहुत कहने पर उन्होंने मेरी बात वरीय डॉक्टर से करवायी। सभी थोड़ा असहज हो गये। उन्हें लगा कि मैं चीजों को समझने लगा हूँ और यह बात सही नहीं है। वरीय डॉक्टर ने झिझकते हुए यह भी पूछ लिया कि क्या आप डॉक्टर हैं। मेरे न कहने पर अपनी नाराजगी जाहिर करने लगे। चिकित्साशास्त्र के ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ एक दम्भ है जो इन डॉक्टरों को विशेषज्ञ बनाता है और किसी आम आदमी से पूछे गये सवाल से उनके स्वाभिमान को धक्का लगता है। उत्तराधुनिकता के दार्शनिकों ने आधुनिक ज्ञान के इस तरह के दम्भ पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। आधुनिक ज्ञान के इन केन्द्रों में रोगी और उनके तीमारदारों को सूचित रखने की कोई परम्परा नहीं है।

एक बात जो उनकी समझ में नहीं आती है कि रोगी और उसके तीमारदार को डॉक्टर और चिकित्सा-व्यवस्था पर विश्वास होना जरूरी है और यह विश्वास पैदा होगा तीन चीजों से। पहला, चिकित्सा के बारे में पूरी पारदर्शिता। दूसरा, उन्हें यह विश्वास दिलाना कि इस प्रक्रिया में डॉक्टरों या चिकित्सालय का उद्देश्य अनुचित लाभ कामना नहीं है। तीसरा, डॉक्टर का सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार। सरकारी चिकित्सालय में लाभ की चिन्ता तो नहीं रहती है लेकिन डॉक्टरों की मंशा पर शक रहता है, और डॉक्टर का व्यवहार काफी असौहार्द्रपूर्ण रहता है। कई मरीजों से बात करने पर यह बात स्पष्ट हुई कि उन्हें उनकी बीमारी के बारे में उपयुक्त जानकारी नहीं दी जाती थी। डॉक्टरों का व्यवहार उन्हें डरानेवाला होता था।

सवाल है कि क्या मरीज और उसके तीमारदार की मानसिक स्थिति का स्वास्थ्य में सुधार से कोई सम्बन्ध है? आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली की सबसे बड़ी कमजोरी है कि इसमें मन और शरीर के बीच के सम्बन्ध को नकारा गया है और शरीर को एक मशीन की तरह देखा जाता है। इस विषय पर बनी हुई फिल्म 'मुन्ना भाई एम.बी.बी.एस.' ने इस दृष्टिकोण की सही आलोचना की है। डॉक्टर और व्यवस्था में विश्वास और उनके बीच मानवीयता के सम्बन्ध को चिकित्सा के अंग के रूप में देखे जाने की जरूरत है।

नब्बे के दशक में एक बार अचानक मुझे हॉस्पिटल में भर्ती होना पड़ा। पहले मैं सेंट स्टीफेन्स में भर्ती हुआ और मेरा हीमोग्लोबिन काफी नीचे आ गया। तय हुआ कि किसी सरकारी अस्पताल में भेजा जाये। संयोग की बात थी कि मेरी एक छात्रा के दादा जी दिल्ली के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर हुआ करते थे। मुझसे पूछा गया कि आप कहाँ जाना चाहेंगे। मैंने

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में जाने से इनकार कर दिया और राम मनोहर लोहिया में भर्ती होने का निर्णय लिया। बहुत से मेरे मित्र आश्चर्यचकित थे। मेरा मानना था कि दोनों में अन्तर है। पहला आपके शरीर पर प्रयोग करता है। उसकी खासियत है बिना पूरी तरह से पता लगाये कि बीमारी क्या है आपका इलाज शुरू नहीं करेगा। लेकिन समस्या है कि आपका शरीर उनके लिए शोध का विषय हो जाता है और उनके इस क्रिया-कलाप में मानवीयता कम रहती है। जबकि दूसरे का उद्देश्य रहता है कि आपको जल्दी-से-जल्दी स्वस्थ्य कैसे बनाया जाये। मेरा यह विचार बिल्कुल अपरिपक्व हो सकता है और आधारहीन भी लग सकता है। लेकिन यदि आप विज्ञान के दर्शन में जाएँ तो आपको इसका अन्तर समझ में आएगा। एक मानता है कि प्रयोगधर्मिता ही विज्ञान का मूल भाव है दूसरा मानता है कि प्रयोग के अलावा भी अनेक तरीके हो सकते हैं निष्कर्ष तक पहुँचने का और डॉक्टरों का अनुभव भी महत्त्वपूर्ण है।

मेरा आकलन सही था। एक तो मैं जिस डॉक्टर की देखरेख में था उनकी खासियत थी कि रोज मुझे पूरी तरह से समझाते थे कि मेरी बीमारी के बारे में किस तरह जाँच की प्रक्रिया तय कर रहे थे। कोई निर्णय क्यों लिया जा रहा था। मेरे बहुत से मित्र जो मुझसे मिलने आते थे उनमें से मेडिकल कॉलेज के छात्र भी थे। खास तौर पर डॉक्टर के आने के समय आते थे और डॉक्टर की बातों को विस्तार से मुझे समझाते थे। इस बात का मेरे लिए बहुत महत्त्व था। हो सकता है डॉक्टर के लिए इसका खास महत्त्व नहीं हो लेकिन मरीज के मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध उनके स्वस्थ होने की प्रक्रिया से है इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। मैं धीरे-धीरे ठीक होने लगा। आश्चर्य की बात थी कि तमाम जाँच की प्रक्रियाओं के बावजूद इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया कि मेरा हीमोग्लोबिन इतना कम क्यों हुआ? शायद इसका सम्बन्ध मेरे रहन-सहन के तरीके से हो ऐसा भी कई डॉक्टरों का मानना था।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि डॉक्टरों के व्यवहार के कारण मैं ठीक हो गया। लेकिन इस प्रक्रिया से इतना जरूर समझ में आया कि मन और शरीर के बीच एक गहरा सम्बन्ध है और यदि शरीर की चिकित्सा की प्रक्रिया में मानसिक स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखा गया तो शरीर का स्वस्थ होना विलम्बित हो सकता है। गम्भीर बीमारियों के दौरान मरीज और परिवार के लोग एक तरह के मानसिक असुन्तलन से गुजरते हैं। उनके जीवन का सवाल रहता है। ऐसे में उन्हें संवेदना की जरूरत है। संवेदना के बदले यदि अविश्वास और भय का माहौल होगा तो यह तय है कि यह उनके लिए बेहतर नहीं होगा।

अब सवाल है कि भारत जैसे देश में जहाँ सरकारी तन्त्र असंवेदनशील है और निजी तन्त्र में अत्यधिक लाभ कमानेवाली कॉरपोरेट व्यवस्था है, चिकित्सा-व्यवस्था को कैसे संवेदनशील बनाया जाये। भविष्य में कोई ऐसी व्यवस्था हो सके जिसमें मानवीय मूल्यों को चिकित्सा-व्यवस्था का आवश्यक अंग बनाया जा सके इसके लिए सबसे जरूरी है कि आधुनिकता के उस दर्शन को सवालों के घेरे में लाया जाये जो शरीर और मन को यथार्थ के दो अलग-अलग पहलुओं के रूप में देखता है। इस सन्दर्भ में गौर करने की बात यह भी है कि आयुर्वेद और अन्य पारम्परिक चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान के क्षेत्र में इस सम्बन्ध को किस तरह देखा जाता है।

अब सवाल है कि भारत जैसे देश में जहाँ सरकारी तन्त्र असंवेदनशील है और निजी तन्त्र में अत्यधिक लाभ कमाने वाली कॉरपोरेट व्यवस्था है, चिकित्सा-व्यवस्था को कैसे संवेदनशील बनाया जाये। भविष्य में कोई ऐसी व्यवस्था हो सके जिसमें मानवीय मूल्यों को चिकित्सा-व्यवस्था का आवश्यक अंग बनाया जा सके इसके लिए सबसे जरूरी है कि आधुनिकता के उस दर्शन को सवालों के घेरे में लाया जाये जो शरीर और मन को यथार्थ के दो अलग-अलग पहलुओं के रूप में देखता है। इस सन्दर्भ में गौर करने की बात यह भी है कि आयुर्वेद और अन्य पारम्परिक चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान के क्षेत्र में इस सम्बन्ध को किस तरह देखा जाता है। यहाँ इस विषय पर विस्तार से बात करना तो सम्भव नहीं है लेकिन जिन लोगों ने प्रेमचन्द की 'मन्त्र' कहानी को पढ़ा होगा उन्हें यह अन्दाजा होगा कि पारम्परिक ज्ञान का मानवीय मूल्य बहुत ठोस है। यह बताना दिलचस्प होगा कि मेरे एक एन्थ्रोपोलोजिस्ट मित्र हैं जो आदिवासी समुदाय से आते हैं। जिनके पिता के पास किसी पौधे का ज्ञान है जिससे प्रसव पीड़ा को कम किया जा सकता है और बिना सर्जरी के प्रसव सम्भव हो पाता है। अपने खुद की पत्नी के मामले में मेरे मित्र ने डॉक्टरों की सलाह के बावजूद उसका उपयोग किया और सब कुछ सामान्य रहा। लेकिन पुत्र ने पिता से इस ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की तो उनके पिता ने इनकार कर दिया। उनके इनकार का आधार था कि उन्हें अपने पुत्र के मूल्य पर विश्वास नहीं था। ऐसे कई उदाहरण मुझे मिले हैं जिसमें मानवीय मूल्य के कारण अपने ज्ञान को बाजारू नहीं बनाने की जिद इन पारम्परिक ज्ञान के जानकारों में रहती है। यही एक बात है जिसके कारण महात्मा गाँधी भी डॉक्टर और वकील जैसे आधुनिक पेशे की आलोचना करते थे। उनका मानना था कि ज्ञान को बाजारू बनाने से अनेक समस्याएँ हो सकती हैं जिसका परिणाम आज हम भुगत रहे हैं। जब ज्ञान धन या यश का साधन बन जाये तो ज्ञान का मूल स्वभाव नष्ट हो सकता है। लोक-कल्याण की भावना जिसे ज्ञान का मूल स्वभाव माना जा सकता है क्या आज के युग में कोई मायने रखता है? क्या इनसानों को ज्ञान के विषय में पुनर्विचार करने की जरूरत है? क्या चिकित्सकों को मानवीय मूल्यों के प्रति संजीदा होने की जरूरत है? क्या चिकित्सकों पर बढ़ती हिंसा के पीछे मूल्यों का ह्रास ही नहीं है? क्या मानवीय मूल्यों के आधार पर चिकित्सालयों के मूल्यांकन की जरूरत नहीं है? बहुत से ऐसे सवाल हैं जिनका उत्तर खोजना आज आवश्यक हो गया है।

■

मृत्यु की बदलती परिभाषा

पद्मा शेषा सारदा लिंगराजु

आवरण कथा

यदि हम निष्क्रिय इच्छामृत्यु को मान्यता देते हैं, तो क्या समाज में ऐसे मरीजों पर अनचाहा दबाव नहीं बढ़ेगा कि वे महँगे इलाज न करवाएँ और परिवार को आर्थिक बोझ से मुक्त करें? यह एक वास्तविक डर है। निष्क्रिय इच्छामृत्यु और पैलिएटिव केयर में वृद्धि का सन्देश यही है कि हम मृत्यु को स्वीकार कर उसे गरिमापूर्ण बना सकें। जीवन सिर्फ लम्बा होने की बजाय गुणवत्तापूर्ण हो। डॉक्टरों को भी चाहिए कि वे मरीज को केवल 'इलाज की वस्तु' न समझकर, उसे एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में देखें।

मृत्यु का विषय सदियों से मानव सभ्यता के केन्द्र में रहा है। यह वह सत्य है जिसे हम चाहकर भी टाल नहीं सकते। जीवन की समस्त गतिविधियाँ कहीं-न-कहीं इसी अन्तिम सत्य की ओर जा रही होती हैं, और हमारी संस्कृति, परम्पराएँ व विश्वास भी मृत्यु की अवधारणा से प्रभावित होते हैं। पुराने जमाने में, जब चिकित्सा विज्ञान इतने विकसित स्तर पर नहीं था, लोग अपना आखिरी समय अपने घरों में बिताते थे। उस समय परिवार और मित्र ही उनके सबसे बड़े सहारे होते थे, साथ ही समुदाय का व्यापक सहयोग भी उन्हें प्राप्त रहता था। धार्मिक रीति-रिवाज और सांस्कृतिक प्रथाएँ इस गहन अनुभव को सान्त्वना और परिप्रेक्ष्य प्रदान करती थीं।

19वीं और 20वीं शताब्दी में उन्नत चिकित्सा और आधुनिक अस्पताल प्रणालियों के विकास ने मृत्यु के प्रति हमारे दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल दिया। विज्ञान के विस्तार ने जहाँ अनेक असाध्य समझी जाने वाली बीमारियों का उपचार सम्भव कर दिखाया, वहीं मृत्यु के समय और प्रक्रिया के साथ छेड़छाड़ भी बढ़ने लगी है। आधुनिक अस्पतालों में तरह-तरह के जीवनरक्षक उपकरणों और प्रक्रियाओं का इस्तेमाल होने लगा, जिससे रोगियों की जान कई बार बचाई जा सकी। किन्तु इसी क्रम में एक नयी सोच उभरने लगी—मृत्यु को जितना हो सके टाल देना चाहिए, चाहे इसके लिए कितना भी इलाज या हस्तक्षेप करना पड़े।

ऐसे में, पहले जहाँ मृत्यु एक घरेलू, पारिवारिक और सांस्कृतिक आयाम रखती थी, अब वह 'मेडिकलाइज्ड' यानी चिकित्सा-प्रधान प्रक्रिया बन गयी। आज हम देखते हैं कि ज्यादातर लोगों का अन्त अस्पताल के बिस्तर पर, मशीनों के बीच और दवाइयों के साये में होता है। परिवार अक्सर खड़ा तो रहता है, मगर अन्तिम क्षण उतने सहज नहीं रह पाते, जितने कभी हुआ करते थे। डॉक्टरों की प्राथमिकता प्रायः यह बन गयी है कि रोगी को हर हाल में जीवित रखा जाये, भले ही जीवन की गुणवत्ता क्यों न गिर जाये।

इस बदलाव ने कई नैतिक और भावनात्मक प्रश्न खड़े किये हैं। क्या मृत्यु के समय जीवनरक्षक उपायों का सीमाहीन इस्तेमाल उचित है? क्या यह इनसान की गरिमा के अनुरूप है कि वह मशीन पर निर्भर होकर अन्तहीन पीड़ा सहता रहे? और अगर किसी गम्भीर रोगी के स्वस्थ होने के आसार लगभग न के बराबर हैं, तो कब यह स्वीकार किया जाये कि हम प्रकृति का मुकाबला नहीं कर सकते? इन प्रश्नों के इर्द-गिर्द पिछले कई दशकों में चिकित्साशास्त्र, दार्शनिकों, न्यायपालिका, तथा समाजशास्त्रियों के बीच गहरी बहसें हुई हैं।

डिजिटल युग के आगमन ने हमारी मृत्यु-सम्बन्धी समझ में एक नये अध्याय की शुरुआत की है। हम केवल इलाज के स्तर पर ही तकनीकी क्रान्ति नहीं देख रहे, बल्कि शोक और यादों के रख-रखाव के स्तर पर भी डिजिटल तकनीक का व्यापक दखल बढ़ा है। सोशल मीडिया ने, जिसे पहले लोग सिर्फ मिलने-जुलने या विचारों के आदान-प्रदान के लिए इस्तेमाल करते थे, अब यादें सँजोने का भी काम शुरू कर दिया है। लोग फेसबुक, इंस्टाग्राम, या अन्य मंचों पर दिवंगत लोगों की यादों को ऑनलाइन संरक्षित कर रहे हैं, श्रद्धांजलि पोस्ट कर रहे हैं, और पुराने चित्र व संस्मरण साझा कर रहे हैं।

यह एक सकारात्मक पहलू हो सकता है क्योंकि इससे लोगों को अपने दुःख को प्रकट करने का मंच मिलता है और वे एक-दूसरे को सान्त्वना दे पाते हैं। लेकिन इसके साथ ही, कुछ लोगों के लिए यह मुश्किल भी पैदा करता है, क्योंकि सोशल मीडिया हर पल सक्रिय रहता है। जिसे आप भूलकर आगे बढ़ना चाह रहे हैं, उसका डिजिटल अस्तित्व बार-बार सामने आ जाता है—कभी यादगार तस्वीरें, कभी पुराने मैसेज, या कभी किसी स्वचालित अलर्ट के माध्यम से। यह 'डिजिटल परलोक'

लेखिका स्पर्श हॉस्पिस, श्री बेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, हैदराबाद में पैलिएटिव केयर की परामर्श प्रभारी एवं मनोवैज्ञानिक हैं ।

+91 90528 93630

sarameya2001blue@gmail.com

(डिजिटल आफ्टरलाइफ) का विचार वास्तव में सोचने पर मजबूर करता है कि मृत्यु के बाद भी हमारी ऑनलाइन उपस्थिति कब तक बनी रहे और उसे नियन्त्रित करने का अधिकार किसके पास हो।

मृत्यु के चिकित्सकीकरण और डिजिटल युग की इन चुनौतियों के बीच दुनिया-भर में इच्छामृत्यु (युथेनेजिया) या मृत्यु-सहायता के कानूनों पर चर्चाएँ तेज हुई हैं। इच्छामृत्यु के कई रूप हैं, जिनमें सक्रिय और निष्क्रिय इच्छामृत्यु प्रमुख हैं। सक्रिय इच्छामृत्यु में, किसी दवा या अन्य माध्यम से रोगी के जीवन को समाप्त किया जाता है, जबकि निष्क्रिय इच्छामृत्यु में जीवनरक्षक उपचारों को रोक दिया जाता है, ताकि प्रकृति अपनी स्वाभाविक दिशा में आगे बढ़ सके।

भारत में वर्ष 2018 में सुप्रीम कोर्ट के एक ऐतिहासिक फैसले ने निष्क्रिय इच्छामृत्यु (पैसिव युथेनेजिया) को कानूनी मान्यता दी, जिससे गम्भीर रूप से बीमार और लाइलाज मरीजों को गरिमापूर्ण मृत्यु का अधिकार मिला। यह फैसला काफी समय से सामाजिक-नैतिक और न्यायिक बहसों में था, लेकिन आखिरकार इसे एक रूपरेखा मिली। इस फैसले के साथ ही, कोर्ट ने एडवांस डायरेक्टिव या 'लिविंग विल' का भी प्रावधान रखा, जिसमें व्यक्ति पहले से लिखकर बता सकता है कि अगर वह किसी ऐसी स्थिति में पहुँच जाये जहाँ कुछ भी ठीक होना लगभग नामुमकिन हो, तो उसे कौन-से इलाज नहीं करवाने हैं।

निष्क्रिय इच्छामृत्यु के इस कानूनी पहलू ने कई लोगों के मन में राहत भी पैदा की है, क्योंकि अब वे अपने अन्तिम समय से सम्बन्धित निर्णयों पर कुछ नियन्त्रण पा सकते हैं। लेकिन इसके अमल में कई चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। लोगों को मालूम ही नहीं है कि वे ऐसी लिविंग विल बना सकते हैं।

इन सबके बीच एक धारणा विकसित हुई है कि अगर हम मृत्यु को दुश्मन समझकर उससे लड़ते ही रहेंगे, तो शायद जीवन की गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभावों को नजरअन्दाज कर देंगे। इसी धारणा को ध्यान में रखते हुए पैलिएटिव केयर (Palliative Care) की अहमियत तेजी से बढ़ रही है। पैलिएटिव केयर का मुख्य उद्देश्य मरीज की बीमारी का इलाज करना नहीं, बल्कि उसकी पीड़ा और तकलीफ कम करना होता है, साथ ही उसके भावनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक पहलुओं को भी समझना होता है।

जब किसी गम्भीर रोग में इलाज के विकल्प सीमित होने लगते हैं या सफल होने की सम्भावना कम हो जाती है, तो पैलिएटिव केयर मरीज को ऐसे साधन मुहैया कराती है जिनसे उसका दर्द, बेचैनी, डर और अकेलापन कम हो सके। यह देखभाल केवल मरीज तक सीमित नहीं रहती, बल्कि उसके परिवार और देखभाल करने वालों को भी सहयोग देती है।

पैलिएटिव केयर के चार प्रमुख स्तम्भ बताये जाते हैं–शारीरिक, भावनात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक सहायता। शारीरिक स्तर पर दर्द निवारक दवाएँ, पोषण सम्बन्धी सलाह और अन्य तरीकों से लक्षण प्रबन्धन किया जाता है। भावनात्मक स्तर पर, मरीज और उसके परिवार को काउंसलिंग, मनोवैज्ञानिक सहयोग और संवाद का मौका दिया जाता है। सामाजिक स्तर पर, आर्थिक व प्रशासनिक मुश्किलें दूर करने का प्रयास किया जाता है, जिसमें सामाजिक कार्यकर्ताओं या स्वयंसेवी संगठनों की मदद ली जा सकती है। आध्यात्मिक स्तर पर, मरीज और परिवार को धर्म, दर्शन या अन्य गहराई से जुड़े प्रश्नों पर सोचने-समझने का अवसर दिया जाता है, ताकि वे मृत्यु के निकट होने के बावजूद अपने जीवन का कोई अर्थ और सम्बल खोज सकें।

भारत में पैलिएटिव केयर अभी भी प्रारम्भिक अवस्था में हैं। कुछ बड़े शहरों में जरूर विशेषज्ञ हॉस्पिस सेण्टर या अस्पताल के भीतर पैलिएटिव केयर इकाइयाँ हैं, परन्तु छोटे शहरों और ग्रामीण इलाकों में यह सुविधा मुश्किल से ही मिलती है। चिकित्सकों और नर्सों को इस विषय का विशेष प्रशिक्षण देना होगा, ताकि वे जान सकें कि मरीजों से संवेदनशील मुद्दों पर कैसे बात की जाये, कैसे दर्द का प्रबन्धन किया जाये, कैसे भावनात्मक सहारा दिया जाये, और किस स्थिति में रोगी की आध्यात्मिक जरूरतों का सम्मान किया जाये।

यही नहीं, आर्थिक स्थिति भी पैलिएटिव केयर के विस्तार में बाधा बनती है। कई जगह ये सेवाएँ महँगी हैं, और हर व्यक्ति इनका खर्च उठा नहीं सकता। इसीलिए, स्वास्थ्य बीमा योजनाओं और सरकारी नीतियों के माध्यम से पैलिएटिव केयर को मुख्यधारा में लाने की जरूरत है। यदि यह देखभाल विकल्प के तौर पर अधिक प्रचारित होगी, तो लोगों के मन में मृत्यु को स्वाभाविक रूप से स्वीकारने की समझ बढ़ेगी।

दूसरी ओर, डिजिटल युग ने हमारे शोक मनाने के तरीके को भी बदल दिया है। पहले मृत्यु के बाद बड़े-बुजुर्ग सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों से परिवार को मार्गदर्शन देते थे, शोक और सान्त्वना का एक सामूहिक वातावरण बनता था। अब सोशल मीडिया पर लोग वर्चुअल तरीके से एक-दूसरे को सान्त्वना देने लगे हैं। मृतक की पुरानी तस्वीरें, वीडियो और सन्देश लम्बे समय तक ऑनलाइन रहते हैं, जो कभी-कभी परिजनों के लिए पीड़ादायक भी हो सकता है।

इस सन्दर्भ में तकनीकी कम्पनियाँ भी अपने मंचों पर 'मेमोरियलाइज्ड अकाउण्ट' या 'लीगेसी कॉण्टैक्ट' जैसे विकल्प देने लगी हैं। इनसे व्यक्ति पहले से किसी को चुन सकता है जो उसके निधन के बाद उसकी प्रोफाइल को सँभाले, या इसे स्मारक प्रोफाइल में बदल दे।

लेकिन अन्तिम समय की गरिमापूर्ण देखभाल और लोगों के डिजिटल व्यवहार के बीच सन्तुलन तभी सम्भव होगा, जब हम मृत्यु को जीवन का स्वाभाविक हिस्सा मानना शुरू करें। अक्सर, आधुनिक सोच मृत्यु को चिकित्सा की विफलता मान लेती है, जबकि पारम्परिक विचारधारा इसे एक अनिवार्य सत्य कहती है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच सन्तुलन बैठाना होगा।

भारत में निष्क्रिय इच्छामृत्यु का कानूनी रूप मिलने के बावजूद, इसे जमीनी स्तर पर लागू करने में कई बाधाएँ हैं–लोगों में जागरूकता की कमी, सांस्कृतिक वर्जनाएँ, धार्मिक मान्यताएँ, आर्थिक संसाधनों की

सीमाएँ और आपातकालीन परिस्थितियों में एडवांस डायरेक्टिव की व्यावहारिक दिक्कतें।

अभी भी इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। उदाहरण के लिए, युवाओं को स्कूल और कॉलेज स्तर पर, मृत्यु-सम्बन्धी संवेदनाओं के प्रति जागरूक किया जा सकता है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी पाठ्यक्रमों में पैलिएटिव केयर, एडवांस डायरेक्टिव, और अन्त-जीवन देखभाल के कानूनी पहलुओं को शामिल किया जा सकता है। चिकित्सा पेशेवरों को सिर्फ बीमारियों के इलाज में दक्ष नहीं होना चाहिए, बल्कि अन्त-जीवन देखभाल के निर्णयों का सम्मान करने और रोगी व परिवार को उचित सलाह देने में भी सक्षम होना चाहिए।

इसी क्रम में, यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि निष्क्रिय इच्छामृत्यु या एडवांस डायरेक्टिव केवल कानूनी उपकरण-भर नहीं हैं, बल्कि वे एक इनसान की स्वतन्त्रता और चेतना का प्रमाण भी हैं। यदि कोई शख्स मानसिक रूप से सचेत रहते हुए लिखता है कि–''मुझे इन-इन स्थितियों में कोई आक्रामक इलाज नहीं चाहिए,'' तो उसे यह हक होना चाहिए कि उसकी इच्छा का सम्मान किया जाये।

साथ ही, कुछ लोग यह सवाल भी उठाते हैं कि यदि हम निष्क्रिय इच्छामृत्यु को मान्यता देते हैं, तो क्या समाज में ऐसे मरीजों पर अनचाहा दबाव नहीं बढ़ेगा कि वे महँगे इलाज न करवाएँ और परिवार को आर्थिक बोझ से मुक्त करें? यह एक वास्तविक डर है। इसलिए, कानून को इतना सन्तुलित होना चाहिए कि इच्छामृत्यु किसी तरह की जबरदस्ती न बने, बल्कि वह सचमुच मरीज की अपनी इच्छा पर आधारित हो।

डिजिटल युग की एक और विशेषता यह है कि हम अपनी मृत्यु से जुड़ी बातें भी ऑनलाइन पढ़ते, शेयर करते और कभी-कभी उसकी तैयारी करते दिखने लगे हैं। कुछ लोग ब्लॉग या सोशल मीडिया पर अपनी अन्तिम इच्छाएँ साझा करते हैं, या बीमारी से जुड़े अनुभवों को सार्वजनिक करते हैं, जिससे अन्य लोग सबक ले सकें। यह एक तरह से मृत्यु का 'डी-टैबूइजेशन' अर्थात मृत्यु सम्बन्धी वर्जना से बाहर आना भी है।

फिर भी, मुख्य चुनौती यही है कि इनसान को अपने प्रियजन से इतना लगाव होता है कि वह अन्त तक कोई भी उपाय आजमाने को तैयार रहता है। कई बार यह प्रयास अनावश्यक पीड़ा को ही बढ़ाता है। लेकिन प्रेम और भावनाओं को पूरी तरह नजरअन्दाज भी नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि मृत्यु के विषय पर एक सन्तुलित सामाजिक संवाद बहुत जरूरी है, जहाँ परिवार, डॉक्टर, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक प्रतिनिधि, सामाजिक कार्यकर्ता–सभी पक्ष (ऑल स्टेक होल्डर) –एक साथ आकर बात करें।

भारत एक विशाल देश है, जहाँ अनेक संस्कृतियों और धार्मिक मतों का संगम है। किसी के लिए इच्छामृत्यु अधार्मिक हो सकती है, तो किसी के लिए यह दया का ही एक रूप है। किसी संस्कृति में परिवार के बड़ों का निर्णय सर्वोपरि माना जा सकता है, तो कहीं निजी इच्छा को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाएगा। इस विविधता में, कानूनी रूप से एक सामान्य ढाँचा रखना और साथ ही लोगों की भावनाओं का सम्मान करना, दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्ततः, निष्क्रिय इच्छामृत्यु और पैलिएटिव केयर में वृद्धि का सन्देश यही है कि हम मृत्यु को स्वीकार कर उसे गरिमापूर्ण बना सकें। यह दृष्टिकोण कहता है कि जीवन सिर्फ लम्बा होने की बजाय गुणवत्तापूर्ण हो, और जब जीवन-मृत्यु की दहलीज पर खड़े हों, तो हमारी मानवीय गरिमा सुरक्षित रहे। डॉक्टरों को भी चाहिए कि वे मरीज को केवल 'इलाज की वस्तु' न समझकर, उसे एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में देखें, जिसकी भावनाएँ, इच्छाएँ और प्रतिष्ठा उसका मूलाधिकार हैं।

सरकार और समाज मिलकर जागरूकता बढ़ाएँ, लोगों में मृत्यु से सम्बन्धित विमर्श को सामान्य करें। जब मृत्यु से जुड़ी बातों को 'टैबू (वर्जना)' न माना जाये, तो ही हम एक स्वस्थ परिप्रेक्ष्य विकसित कर पाएँगे। निस्सन्देह, मृत्यु एक ऐसा सच है जिसे बदला नहीं जा सकता, लेकिन इसे समझने, स्वीकारने और व्यवस्थित करने के अनेक उपाय हैं।

मृत्यु को जीवन का अन्तिम पहलू मानकर चलना, और फिर भी उसके डर को कम करने के प्रयास करना ही हमें मानसिक रूप से सशक्त बनाता है। निष्क्रिय इच्छामृत्यु के भारतीय कानून ने, भले ही देर से ही सही, इस दिशा में एक आवश्यक शुरुआत की है। अब आगे हमारे समाज को यह तय करना होगा कि इस कानून का सही मायनों में उपयोग कैसे किया जाये, ताकि न तो लोगों पर अनचाहा दबाव पड़े, न ही कोई मर्यादा का उल्लंघन हो।

इस पूरी बहस में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत्यु को हम 'पराजय' या 'निराशा' न मानें, बल्कि जीवन के स्वाभाविक क्रम का एक अंग समझें। यदि हमने अपनी चिकित्सा-प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था को इस रूप में विकसित कर लिया कि जब इलाज के सभी दरवाजे बन्द हों, तब हम व्यक्ति को गरिमापूर्ण और शान्तिपूर्ण प्रस्थान का विकल्प दे सकें–तो यह हमारी मानवीय संवेदना का सबसे बड़ा प्रमाण होगा।

निष्कर्ष यह है कि मृत्यु से सम्बन्धित ये तमाम परिवर्तन–चाहे मेडिकल तकनीकों में आया बदलाव हो, इच्छामृत्यु का कानूनी पहलू हो, पैलिएटिव केयर की विस्तृत धारणा हो, या फिर डिजिटल माध्यमों से जुड़ी नयी उलझनें–हमारा वर्तमान और भविष्य तय कर रहे हैं। अगर हम खुलकर इस पर चर्चा कर पाएँ, सही कदम उठा पाएँ, तो हम मृत्यु से डरने के बजाय उसे समझकर, स्वीकृत कर, और गरिमापूर्ण बना सकेंगे। यही वह सन्तुलन है, जहाँ हमारी तकनीकी प्रगति और मानवीय करुणा हाथों में हाथ डाले आगे बढ़ती दिखाई देती है।

अन्ततः, हमें याद रखना चाहिए कि मृत्यु जीवन का परम सत्य होते हुए भी, मानवीय सहयोग, संवेदना और गरिमा से जुड़ा हुआ विषय है। परिवार के साथ स्पष्ट संवाद, डॉक्टरों की सहानुभूतिपूर्ण भूमिका, कानूनी सुरक्षा, और पैलिएटिव केयर जैसे मानवीय दृष्टिकोण–ये सब मिलकर इस यात्रा को कम तकलीफदेह और अधिक सम्मानजनक बना सकते हैं। मृत्यु के सामने हम जितना खुला, सकारात्मक और संवेदनशील दृष्टिकोण रखेंगे, उतना ही हमारे समाज और आने वाली पीढ़ियों को इस अन्तिम सत्य का सामना करने में सहूलियत होगी।

■

चिकित्साशास्त्र में मन की भूमिका

राजेश हर्षवर्द्धन

मानसिक-शारीरिक चिकित्सा (एम.बी.एम.) हमारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के बीच के गहरे सम्बन्धों को समझने और उन्हें बेहतर बनाने पर केन्द्रित एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। इस दृष्टिकोण का मूल सिद्धान्त यह है कि हमारे विचार, भावनाएँ और दृष्टिकोण सीधे हमारे शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, और इसके विपरीत भी। प्राचीन काल से ही इस अवधारणा को अपनाया गया है, और आज के आधुनिक विज्ञान ने इसे नये सिरे से समझने की कोशिश की है, जिससे एम.बी.एम. आज के समय में अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावी बन गया है।

मानसिक-शारीरिक सम्बन्ध की समझ प्राचीन काल से ही मौजूद है। पारम्परिक चीनी और आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणालियों ने दो हजार से अधिक वर्षों से यह मान्यता अपनायी है कि मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य गहराई से जुड़े हुए हैं। इन प्रणालियों में मन और शरीर के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिए विभिन्न अभ्यास और उपचार शामिल थे, जैसे योग, ध्यान, और प्राकृतिक जड़ी-बूटियों का उपयोग। हिप्पोक्रेटीस, जिन्हें चिकित्सा का जनक कहा जाता है, ने लगभग 400 ईसा पूर्व एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं को शारीरिक उपचारों के साथ जोड़कर देखा। उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक प्राकृतिक उपचार शक्ति होती है, जो उसे स्वस्थ होने में मदद करती है।

पुनर्जागरण और प्रकाशन युग के दौरान, पश्चिमी चिकित्सा ने मन और शरीर को अलग-अलग मानना शुरू कर दिया। माइक्रोस्कोप के आविष्कार और एण्टीबायोटिक के विकास ने चिकित्सा के फोकस को शारीरिक रोगों के उपचार की ओर मोड़ दिया। इस बदलाव के कारण, मानसिक स्वास्थ्य को अक्सर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा, जिससे भावनाओं और विश्वासों के शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव को कम महत्त्व दिया गया। इस विभाजन ने पश्चिमी चिकित्सा में मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के बीच सन्तुलन को बाधित किया, जिससे मानसिक-शारीरिक चिकित्सा के पुनरुत्थान की आवश्यकता महसूस होने लगी। आज, आधुनिक विज्ञान ने फिर से इस सम्बन्ध को उजागर किया है, जिससे मानसिक-शारीरिक चिकित्सा को एक समग्र स्वास्थ्य दृष्टिकोण के रूप में पुनः मान्यता मिली है।

20वीं सदी में मन-शरीर सम्बन्ध का पुनरुत्थान हुआ। 1920 के दशक में वाल्टर कैनन ने 'फाइट या फ्लाइट' प्रतिक्रिया की अवधारणा पेश की, जिसने दिखाया कि तनाव शरीर की तन्त्रिका-एण्डोक्राइन प्रणाली को कैसे प्रभावित करता है। इसके बाद हांस सेले ने यह स्पष्ट किया कि दीर्घकालिक तनाव हाइपरटेंशन, मधुमेह और प्रतिरक्षा-प्रणाली में खराबी का कारण बन सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हेनरी बीचर ने प्लेसीबो प्रभाव पर शोध किया, जिससे यह साबित हुआ कि मानसिक विश्वास शारीरिक स्वास्थ्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है। 1960 के बाद बायोफीडबैक, संज्ञानात्मक-व्यावहारिक चिकित्सा (कॉगनिटिव बिहेविरल थेरेपी-सी.बी.टी.) और सम्मोहन जैसी तकनीकों ने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य दोनों में सकारात्मक प्रभाव दिखाकर एम.बी.एम. की वैधता स्थापित की।

न्यूरोसाइंस के क्षेत्र में हाल के शोध ने यह सिद्ध किया है कि मस्तिष्क के कुछ महत्त्वपूर्ण हिस्से जैसे सेरेबेलम और फ्रण्टल लोब मन-शरीर समन्वय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सेरेबेलम, जो पारम्परिक रूप से गति समन्वय से जुड़ा होता है, यह भी भाषा और संज्ञानात्मक

लेखक संजय गाँधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान लखनऊ में अस्पताल प्रशासन के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा वरिष्ठ चिकित्सक हैं।

+7054111213

drrharsvardhan@yahoo.co.in

कार्यों को सक्रिय करने में महत्त्वपूर्ण होता है। पोश्चर मांसपेशियाँ, जो हमारे सीधा खड़े होने की स्थिति को बनाये रखने में मदद करती हैं, सेरेबेलम को आवश्यक संकेत भेजती हैं। यदि पोश्चर में असन्तुलन हो जाता है, तो यह मस्तिष्क की कार्यक्षमता को प्रभावित कर सकता है, जिससे शारीरिक समन्वय और संज्ञानात्मक प्रदर्शन दोनों पर असर पड़ता है। इसी तरह, यह दिखाया गया है कि फ्रण्टल लोब, जो ध्यान, गति और भावनात्मक विनियमन के लिए जिम्मेदार है, ADHD (अटेंशन डेफिसिट हाइपरएक्टिविटि डिजऑर्डर), तनाव विकारों, और कुछ व्यक्तित्व विकारों वाले व्यक्तियों में छोटा होता है। यह खोज दर्शाती है कि हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य कितने गहरे जुड़े हुए हैं। तनाव हमारे मन-शरीर सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। तनाव के दौरान शरीर कोर्टिसोल जैसे हार्मोन रिलीज करता है, जो प्रतिरक्षा तन्त्र, रक्त शर्करा नियन्त्रण और हृदय स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। दीर्घकालिक तनाव से उच्च रक्तचाप, मधुमेह और प्रतिरक्षा-प्रणाली में कमी जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जो दर्शाती हैं कि तनाव केवल मानसिक बोझ नहीं बल्कि शारीरिक रोगों का भी महत्त्वपूर्ण कारण है। इसके विपरीत, माइण्डफुलनेस मेडिटेशन और योग जैसी प्रथाएँ तनाव को कम करने में मदद करती हैं, हार्मोनल सन्तुलन सुधारती हैं और शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार लाती हैं। यह एक सकारात्मक चक्र बनाता है जहाँ मानसिक विश्राम शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देता है, जिससे समग्र स्वास्थ्य में निरन्तर सुधार होता है।

मन और शरीर के बीच का सम्बन्ध द्विदिशीय है, अर्थात् शारीरिक प्रथाएँ मानसिक अवस्थाओं को प्रभावित कर सकती हैं और इसके विपरीत भी। योग, ताई ची, और किगोंग जैसे शारीरिक अभ्यास न केवल शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाते हैं बल्कि मानसिक विश्राम और भावनात्मक सन्तुलन को भी बढ़ावा देते हैं। ये प्रथाएँ मस्तिष्क, तन्त्रिका तन्त्र, और एण्डोक्राइन तन्त्र के बीच संचार को बेहतर बनाती हैं, जिससे समग्र कल्याण में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, पावर पोज (शक्तिशाली और आत्मविश्वास से भरे दिखने वाली मुद्राएँ) अपनाने से हार्मोनल प्रोफाइल में बदलाव आता है, जिससे टेस्टोस्टेरोन बढ़ता है और कोर्टिसोल कम होता है, जो मनोवैज्ञानिक सशक्तीकरण और लचीलापन बढ़ाता है। इसके अलावा, विश्राम तकनीकें, रचनात्मक कला चिकित्सा, और गाइडेड इमेजरी मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के बीच सकारात्मक फीडबैक लूप विकसित करने में मदद करती हैं, जिससे एम.बी.एम. की प्रभावशीलता स्पष्ट होती है।

मानसिक-शारीरिक चिकित्सा (एम.बी.टी.) के व्यावहारिक अनुप्रयोग विविध और प्रभावी हैं, जो मन और शरीर के सम्बन्ध को मजबूत करने का लक्ष्य रखते हैं। बायोफीडबैक से हृदय गति और मांसपेशियों के तनाव की निगरानी करके व्यक्ति तनाव को नियन्त्रित कर सकता है। संज्ञानात्मक-व्यावहारिक चिकित्सा (सी.बी.टी.) नकारात्मक विचारों को बदलकर भावनात्मक सन्तुलन और शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार लाती है। सम्मोहन गाइडेड रिलैक्सेशन और ध्यान केन्द्रित करके दर्द प्रबन्धन और तनाव को कम करता है। ध्यान और योग विश्राम बढ़ाते हैं, रक्तचाप कम करते हैं और संज्ञानात्मक कार्य में सुधार करते हैं। रचनात्मक कला चिकित्सा, जैसे संगीत, कला और नृत्य, भावनाओं को संसाधित करने और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार करने में सहायक होती हैं। गाइडेड इमेजरी सकारात्मक परिदृश्यों की कल्पना करके विश्राम और तनाव कम करने में मदद करती हैं। व्यापक अनुसन्धान से यह सिद्ध हुआ है कि एम.बी.टी. दीर्घकालिक दर्द, तनाव-सम्बन्धित विकार और मानसिक स्वास्थ्य स्थितियों में महत्त्वपूर्ण लाभ प्रदान करती है, जिससे समग्र कल्याण में वृद्धि होती है।

हृदय स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी मन-शरीर चिकित्सा ने सकारात्मक प्रभाव दिखाया है। माइण्डफुलनेस और विश्राम तकनीकों ने रक्तचाप को कम करने और हृदय गति में सुधार लाने में मदद की है, जिससे बेहतर हृदय स्वास्थ्य सुनिश्चित होता है। उच्च रक्तचाप और अनियमित हृदय गति जैसी स्थितियाँ हृदय रोगों के जोखिम को बढ़ाती हैं, और इन प्रथाओं के माध्यम से इन जोखिमों को कम किया जा सकता है। मानसिक स्वास्थ्य स्थितियाँ जैसे PTSD (पोस्ट ट्राउमेटिक स्ट्रेस डिसऑर्डर), चिन्ता विकार, और अवसाद भी मन-शरीर हस्तक्षेपों पर अच्छी प्रतिक्रिया देती हैं। संज्ञानात्मक-व्यावहारिक चिकित्सा (सी.बी.टी.) और सम्मोहन जैसी तकनीकें व्यक्तियों को उनके लक्षणों को प्रबन्धित करने में मदद करती हैं, जो अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारकों को सम्बोधित करती हैं।

आगे चलकर, मन-शरीर चिकित्सा का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई देता है। जैसे-जैसे समाज में मानसिक स्वास्थ्य के महत्त्व को बढ़ावा दिया जा रहा है, मन-शरीर चिकित्सा को मुख्यधारा की स्वास्थ्य देखभाल प्रणालियों में शामिल करने के प्रयास तेज हो रहे हैं। व्यक्तिगत चिकित्सा, जिसमें उपचार को व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलित किया जाता है, और डिजिटल स्वास्थ्य नवाचार, जैसे टेलीहेल्थ प्लेटफॉर्म्स और मोबाइल ऐप्स, मन-शरीर चिकित्सा को अधिक सुलभ और प्रभावी बना रहे हैं। इन तकनीकों के माध्यम से, व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को बेहतर बनाने के लिए सक्रिय भूमिका निभा सकता है, जिससे समग्र कल्याण में वृद्धि होती है। डिजिटल माध्यमों के उपयोग से, मन-शरीर चिकित्सा के सत्र अब दूरस्थ रूप से भी उपलब्ध हो सकते हैं, जिससे वे व्यापक जनसंख्या के लिए अधिक सुलभ बन जाती हैं। ऑनलाइन कार्यक्रम और मोबाइल ऐप्स गाइडेड मेडिटेशन, वर्चुअल योग कक्षाएँ, और संज्ञानात्मक-व्यवहारिक चिकित्सा सत्र प्रदान कर सकते हैं, जिससे व्यक्तियों को एम.बी.एम. प्रथाओं को अपनी दैनिक जीवन में आसानी से शामिल करने की सुविधा मिलती है। यह पहुँच भौगोलिक सीमाओं और समय सम्बन्धी बाधाओं को पार करने में मदद करती है, मन-शरीर चिकित्सा की प्रभावशीलता और पहुँच को बढ़ाते हुए। मन-शरीर चिकित्सा को मुख्यधारा में पूरी तरह से शामिल करने के लिए बीमा कवरेज का अभाव, स्वास्थ्य देखभाल पेशेवरों को व्यापक प्रशिक्षण की आवश्यकता, और सांस्कृतिक बाधाएँ जैसी चुनौतियाँ हैं। इन चुनौतियों को पार करने के लिए वकालत, चिकित्सा शिक्षा में एम.बी.एम. प्रशिक्षण को शामिल करना, सांस्कृतिक परिवर्तन, और एम.बी.एम. के लाभों के प्रति जागरूकता बढ़ाना आवश्यक है। इस प्रकार, मन-शरीर चिकित्सा न केवल व्यक्तिगत स्वास्थ्य को बढ़ावा दे सकती है, बल्कि स्वास्थ्य देखभाल प्रणालियों को भी अधिक प्रभावी और टिकाऊ बना सकती है, जिससे समाज में समग्र कल्याण में वृद्धि हो।

■

आवरण कथा

उपचार, बाजार, लोक और तन्त्र

हरप्रीत कौर जस

ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य सुविधाओं का घोर अभाव रहता है, इसलिए बड़े शहरों के अस्पतालों पर बोझ बढ़ता जाता है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों (पी.एच.सी.) को सशक्त बनाने से यह सम्भव है कि लोगों को शुरुआती इलाज पास में ही मिल जाये। इसके लिए डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों की संख्या बढ़ानी होगी और उन्हें ग्रामीण इलाकों में काम करने के लिए बेहतर सुविधाएँ देनी होंगी। मेडिकल शिक्षा की लागत भी कम होनी चाहिए, ताकि ज्यादा युवा इस क्षेत्र में आएँ और भौगोलिक रूप से सन्तुलित ढंग से सेवाएँ दें।

चिकित्सा किसकी जिम्मेदारी है, यह सवाल महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि हर व्यक्ति चाहता है कि बीमार पड़ने पर उसे समय पर अच्छा और सुलभ इलाज मिल जाये, लेकिन प्रायः ऐसा नहीं हो पाता। आर्थिक तंगी, सरकारी सुविधाओं की कमी, महँगे निजी अस्पताल, डॉक्टरों की अनुपलब्धता, दवाइयों का बढ़ता खर्च, और लोगों के बीच व्याप्त अज्ञानता या अन्धविश्वास मिलकर एक ऐसी परिस्थिति पैदा करते हैं जहाँ स्वास्थ्य सेवाओं तक सबकी बराबर पहुँच नहीं बन पाती। बड़े शहरों में कुछ सरकारी अस्पताल मौजूद हैं जहाँ इलाज अपेक्षाकृत बेहतर और सस्ता होता है, लेकिन वहाँ भीड़ इतनी अधिक होती है कि मरीजों को लम्बा इन्तजार करना पड़ता है। दूसरी ओर, निजी अस्पतालों में सुविधाएँ तो अच्छी होती हैं, लेकिन खर्च इतना अधिक हो जाता है कि मध्यमवर्गीय और गरीब परिवार वहाँ जाने से डरते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि एक बड़ी बीमारी का इलाज सालों की जमा-पूँजी को खत्म कर देगा। इसी वजह से बहुत से लोग बिना इलाज के ही जीवन गुजारते रहते हैं, या फिर किसी झोलाछाप डॉक्टर, अन्धविश्वास, तन्त्र-मन्त्र, और चमत्कार के भरोसे ही रह जाते हैं।

इनसान का दृष्टिकोण बीमारी, इलाज, स्वास्थ्य, और शरीर के प्रति भी चिकित्सा-प्रणाली के लिए महत्त्वपूर्ण है। बीमारी का डर इनसान के मन में गहरे बैठा होता है, क्योंकि स्वास्थ्य बिगड़ने पर व्यक्ति अपनी दिनचर्या, रोजगार, पारिवारिक जिम्मेदारियों, और मानसिक शान्ति से दूर हो जाता है। हर कोई स्वस्थ रहना चाहता है, लेकिन जीवन-शैली, खान-पान, नींद की कमी, प्रदूषण, और तेज रफ्तार जिन्दगी के दबाव में अनेक लोग अपनी सेहत का ठीक से ध्यान नहीं रख पाने के लिए मजबूर हो जाते हैं। बहुत-सी बीमारियाँ, जैसे मधुमेह, हृदय रोग, मोटापा, और मानसिक तनाव, आधुनिक जीवन-शैली का परिणाम हैं। इनके अलावा गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले लोग रोजमर्रा की जिन परिस्थितियों में काम करते हैं, वहाँ उनसे यह अपेक्षा करना मुश्किल है कि वे अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रह सकें। सफाईकर्मी, कूड़ा बीनने वाले, खदानों में काम करने वाले मजदूर अक्सर ऐसे माहौल में काम करते हैं जहाँ सुरक्षा के पर्याप्त साधन नहीं होते। नतीजा यह होता है कि उन्हें गम्भीर बीमारियों का खतरा ज्यादा रहता है। ऐसे में अगर वे बड़े अस्पतालों में जाते हैं, तो इलाज का खर्च इतना अधिक होता है कि वे इलाज करा नहीं पाते या बड़े कर्ज में डूब जाते हैं।

इलाज हर इनसान का अधिकार है, यह विचार इस सोच पर टिका है कि स्वास्थ्य भी शिक्षा की तरह एक सार्वजनिक हित है, जिसे मुनाफे से ऊपर रखना चाहिए। शिक्षा और स्वास्थ्य में भेदभाव नहीं होना चाहिए, लेकिन जब हम अस्पतालों में होने वाले

लेखिका जामिया मिल्लिया इस्लामिया के शिक्षा संकाय में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

+91 98111 36855

jassharpreetkaur@rediffmail.com

खर्च, निजी क्षेत्र की भारी-भरकम बिलिंग, या ग्रामीण इलाकों में डॉक्टरों की अनुपस्थिति देखते हैं, तब हमें महसूस होता है कि इलाज सुलभ कराना अब भी एक बड़ी चुनौती बना हुआ है। सरकारें कई स्तरों पर प्रयास करती हैं—सरकारी अस्पतालों का विस्तार, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना, डॉक्टरों की भर्ती, टीकाकरण अभियान, स्वास्थ्य बीमा योजनाएँ, आयुष्मान जैसी नीतियाँ, और दवाइयों की कीमतों पर नियन्त्रण के कानून इत्यादि। अक्सर बजट की कमी, भ्रष्टाचार या ढाँचागत अव्यवस्था की वजह से ये योजनाएँ प्रभावी रूप से लागू नहीं हो पातीं। कई मामलों में ग्रामीण और दूर-दराज इलाकों के स्वास्थ्य केन्द्र समय पर नहीं खुलते, इसके अलावा वहाँ पर गये स्वास्थ्य कर्मियों को गाँववालों की सोच और मूल्यों से भी जूझना पड़ता है। शहर से आये इलाज को विश्वास से नहीं देखा जाता। ऐसे में गाँव में ही तैयार किये गये स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता ज्यादा सहायक होते हैं।

इस समस्या के दूसरे छोर पर निजी अस्पताल हैं, जिनमें आधुनिक चिकित्सा के तमाम साधन, उपकरण और विशेषज्ञ उपलब्ध होते हैं। बड़ी बीमारियों में अक्सर गहन चिकित्सा की जरूरत होती है, जो आधुनिक तकनीकों से लैस अस्पतालों में ही मुमकिन है। लेकिन वहाँ का खर्च उठाना आसान नहीं है, क्योंकि निजी क्षेत्र मुनाफे के आधार पर चलता है। बड़े शहरों में उभरे कारपोरेट अस्पतालों की शृंखला लोक-कल्याण से ज्यादा अपने आर्थिक हितों पर ध्यान देती है। कई बार अस्पताल अनावश्यक टेस्ट या महँगी दवाइयाँ लिख देते हैं, ताकि बिल की राशि बढ़ाई जा सके। फार्मा कम्पनियों और डॉक्टरों के बीच होने वाले कथित गठजोड़ की खबरें भी आती रहती हैं, जहाँ किसी विशेष ब्राण्ड की दवा लिखने पर डॉक्टर को फायदा होता है। इस वातावरण में उस आम व्यक्ति की स्थिति और कमजोर पड़ जाती है जो जानकारी के अभाव में कुछ नहीं कर पाता। ऐसे लोग कभी-कभी स्थानीय झोलाछाप डॉक्टरों, नीम-हकीमों या तान्त्रिकों पर भरोसा कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें उम्मीद रहती है कि शायद ये लोग सस्ता इलाज कर देंगे या कोई चमत्कारिक उपाय मिल जाएगा।

मृत्यु का डर इस स्थिति को और भी नाजुक बना देता है, क्योंकि जब किसी गम्भीर रोगी का परिवार यह देखता है कि अस्पताल का खर्च बहुत ज्यादा है या इलाज में देरी हो रही है, तब वे किसी भी कथित चमत्कार की ओर आकर्षित हो सकते हैं। अन्धविश्वास की जड़ें गहरी होने पर लोग विज्ञान के बजाय टोने-टोटके पर भरोसा करने लगते हैं। हालाँकि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पूर्णतया अचूक नहीं है, फिर भी वह तर्क, प्रयोग और प्रमाणों पर आधारित होने के कारण विश्वास के योग्य है। जब वैज्ञानिक तरीकों से शोध करके दवाइयाँ तैयार होती हैं, या सर्जरी होती है, तो उसके परिणाम आँकड़ों और परीक्षणों के आधार पर समझे जा सकते हैं। यह संयोग या चमत्कार के बजाय एक ठोस प्रक्रिया होती है, जिस पर हम अपेक्षाकृत अधिक यकीन कर सकते हैं।

अब सवाल उठता है कि सरकार कहाँ तक जिम्मेदार है, और क्या सिर्फ सरकारी नीतियों के सहारे सम्पूर्ण समाधान निकल सकता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार को चुनकर जनता भेजती है, इसलिए सरकार का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह अपने नागरिकों को पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाएँ दे। बजट में स्वास्थ्य का हिस्सा बढ़ाया जाये, डॉक्टरों की नियुक्ति की प्रक्रिया आसान की जाये, ग्रामीण और दूर-दराज इलाकों में काम करने वाले चिकित्साकर्मियों को प्रोत्साहन दिया जाये, सरकारी अस्पतालों में आधुनिक उपकरण लगें, दवाइयों की कीमत पर सख्त नियन्त्रण रखा जाये और निजी क्षेत्र के अस्पतालों व बीमा कम्पनियों के लिए पारदर्शी नियमन बनाया जाये। लेकिन सिर्फ कानून बना देने से सब ठीक नहीं होता; जरूरी है कि उन नीतियों का सही क्रियान्वयन हो, भ्रष्टाचार पर अंकुश लगे, और लोगों को समय पर जानकारी मिले।

चिकित्सा की दुनिया में विविध पद्धतियों का अस्तित्व है, जिनमें एलोपैथी सबसे ज्यादा प्रचलित है, मगर आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी और नेचुरोपैथी भी अलग-अलग जगहों पर लोकप्रिय हैं। सदियों से ये परम्परागत पद्धतियाँ लोगों को इलाज देती आ रही हैं, कुछ जड़ी-बूटियों के फायदे भी प्रमाणित हो चुके हैं, जबकि कुछ विधियों में वैज्ञानिक आधार पर गलतियाँ भी मिलती हैं। अगर हम किसी एक पद्धति को पूरी तरह नकार दें, तो शायद हम ऐसे लाभों से वंचित रह जाएँ जो लम्बे समय तक इस्तेमाल में रहे हैं और लोगों के अनुभवों से पुष्ट हुए हैं। दूसरी ओर, किसी भी पद्धति को आँख बन्द करके अपनाना भी ठीक नहीं, क्योंकि हो सकता है कि वह गम्भीर बीमारियों में पर्याप्त असर न दिखाये, और इस बीच मरीज की हालत बिगड़ती चली जाये। आदर्श स्थिति वही होगी, जहाँ हम सब पद्धतियों की खूबियों और सीमाओं को जानें, और जरूरत के मुताबिक उनका लाभ लें। लेकिन मौजूदा समय में इस तरह का समन्वय सामान्यतः दिखाई नहीं देता; अक्सर लोग अपनी-अपनी पसन्द की पद्धति को ही सर्वश्रेष्ठ बताने में लगे रहते हैं।

मानव शरीर के काम-काज को यदि हम समझें, तो पता चलता है कि वह एक जटिल तन्त्र है, जिसका विकास क्रमिक रूप से हुआ है। हम जितनी अच्छी जीवन-शैली अपनाएँ, उतना ही बीमार होने की आशंका कम रहेगी। इसीलिए यह समझना जरूरी है कि इलाज की जिम्मेदारी सिर्फ सरकार या डॉक्टर की नहीं है, बल्कि व्यक्ति को भी अपने खान-पान, व्यायाम, सफाई, नींद, मानसिक स्वास्थ्य, और तनाव प्रबन्धन का ध्यान रखना पड़ेगा। योग और ध्यान जैसे अभ्यास शरीर को लचीला बनाने के साथ-साथ मानसिक रूप से मजबूत भी करते हैं, लेकिन कई बार इनका बाजारीकरण हो जाता है और लोग इन्हें सिर्फ फैशन या अत्यधिक प्रचार के चलते अपनाते हैं, पर सही मार्गदर्शन के बिना उन्हें वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता। इसी तरह, पौष्टिक आहार और स्वच्छ पानी की भूमिका पर हम जोर देते हैं, लेकिन गरीब परिवार आर्थिक तंगी के कारण पर्याप्त पोषण नहीं खरीद पाते, और गन्दे वातावरण में रहने से वे बार-बार बीमार पड़ते हैं।

इसलिए वास्तविक समाधान व्यापक होना चाहिए, जिसमें सरकार, समाज, डॉक्टर, निजी क्षेत्र और स्वयं व्यक्ति सब मिलकर योगदान दें। सरकार को यह देखना होगा कि लोग कम-से-कम बीमार पड़ें, इसके लिए पर्यावरण सुधार, प्रदूषण नियन्त्रण, स्वच्छ पेयजल, कूड़े का सही प्रबन्धन, पौष्टिक भोजन की उपलब्धता, और काम-काज के अनुकूल परिवेश जैसी बातों पर ध्यान दिया जाये। समाज को अन्धविश्वास और गन्दगी

जैसी आदतों का परित्याग करना होगा, मानसिक समस्याओं को कलंकित न मानकर उन पर खुलकर बात करनी होगी, स्वास्थ्य शिविर और जागरूकता कार्यक्रमों की पहल करनी होगी। निजी क्षेत्र यदि अपनी सामाजिक जिम्मेदारी समझे, तो वह महज मुनाफे के पीछे न भागकर किफायती इलाज देने की कोशिश कर सकता है, जेनरिक दवाइयों को बढ़ावा देकर दवाइयों को सस्ता बना सकता है, और बीमा योजनाओं को पारदर्शी रख सकता है। हर व्यक्ति को अपनी दिनचर्या, भोजन, स्वच्छता और मानसिक स्वस्थता पर भी ध्यान देना होगा। यदि कोई बीमारी हो जाये, तो समय रहते डॉक्टर की सलाह लेकर इलाज शुरू करना बेहतर होगा, बजाय इसके कि हम अन्तिम क्षण तक इन्तजार करते रहें या गलत जगह जाएँ।

इस बहस में एक बात यह भी उभरती है कि ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य सुविधाओं का घोर अभाव रहता है, इसलिए बड़े शहरों के अस्पतालों पर बोझ बढ़ता जाता है और शहरों में भीड़ के कारण व्यवस्था चरमराने लगती है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों (पी.एच.सी.) को सशक्त बनाने से यह सम्भव है कि लोगों को शुरुआती इलाज पास में ही मिल जाये। इसके लिए डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों की संख्या बढ़ानी होगी और उन्हें ग्रामीण इलाकों में काम करने के लिए बेहतर सुविधाएँ देनी होंगी। मेडिकल शिक्षा की लागत भी कम होनी चाहिए, ताकि ज्यादा युवा इस क्षेत्र में आएँ और भौगोलिक रूप से सन्तुलित ढंग से सेवाएँ दें। यदि टेलिमेडिसिन और मोबाइल क्लीनिक जैसी परियोजनाओं को ईमानदारी से लागू किया जाये, तो दूर-दराज के लोगों को भी विशेषज्ञों के परामर्श का लाभ मिल सकता है, हालाँकि इलाज के लिए अस्पताल की सुविधा को सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

कई देशों (मूलतः यूरोप) में सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली बहुत मजबूत है, जहाँ अधिकांश बीमारियों का इलाज सरकारी सुविधाओं से हो जाता है, और लोगों को निजी अस्पतालों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। भारत जैसे विशाल देश में चुनौतियाँ ज्यादा हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम असफल रहने के लिए अभिशप्त हैं। यदि स्वास्थ्य को वास्तविक राजनीतिक प्राथमिकता दी जाये, जिस तरह शिक्षा को कभी-कभी मिलती है, तो इलाज की गुणवत्ता और पहुँच दोनों बढ़ाई जा सकती है। यह आवश्यक है कि आम लोग भी इस मुद्दे को चुनावी बहस का हिस्सा बनाएँ, ताकि चुनी हुई सरकारें स्वास्थ्य बजट को बढ़ाएँ, भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाएँ, और जमीनी स्तर पर काम करें।

चिकित्सा-व्यवस्था को बेहतर करने का अर्थ सिर्फ अस्पतालों में बेड या वेंटिलेटर बढ़ा देना नहीं है, बल्कि इस पूरी सोच को एक व्यापक रूप देना है, जिसमें बीमारियों के जन्म से पहले रोकथाम पर भी उतना ही ध्यान हो। रोकथाम में स्वच्छता, टीकाकरण, पर्यावरण नियन्त्रण, पारिवारिक पोषण, मानसिक स्वास्थ्य जागरूकता, और सामुदायिक सहयोग बहुत बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। इस नजरिये से देखें, तो हर इनसान, हर परिवार और हर मोहल्ले या गाँव को मिलकर बीमारियों के खिलाफ एक ढाल तैयार करनी होगी, ताकि अस्पताल में भर्ती होना अन्तिम विकल्प रहे, न कि आम चलन।

इसी कड़ी में विविध चिकित्सा-पद्धतियों का ताल-मेल भी अहम् है। यदि कोई गम्भीर संक्रमण या दुर्घटना हो, तो आधुनिक चिकित्सा (एलोपैथी) का सहारा लेना बहुत जरूरी हो जाता है, मगर सामान्य रोगों या दीर्घकालिक बीमारियों में आयुर्वेद, होम्योपैथी, या योग से भी मदद मिल सकती है। कई बार शरीर की मूल प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में वैकल्पिक पद्धतियाँ सहायक हो सकती हैं, बशर्ते उन्हें सही ज्ञान के साथ अपनाया जाये। लेकिन बाजार में हर कोई विशेषज्ञ होने का दावा करने लगता है, जिससे भ्रम फैलता है। इसलिए सरकार को इन पारम्परिक और पूरक पद्धतियों में शोध बढ़ाना चाहिए, उनके लाभों और सीमाओं को ठीक से समझना चाहिए, और फिर उन्हें वैज्ञानिक आधार पर आम जनता तक पहुँचाना चाहिए। हेल्थ एजुकेशन के तहत आम जनता को भी अलग-अलग पद्धति को समझना और शरीर के विज्ञान को पढ़ने की कोशिश को प्रोत्साहित करना चाहिए।

दो पीढ़ियों के अनुभवों को देखें, तो पहली पीढ़ी ने घरेलू नुस्खों, लोक-चिकित्सा, और सरकारी अस्पतालों की सीमित व्यवस्था के बीच अपनी जिन्दगी गुजारी, जबकि दूसरी पीढ़ी के सामने निजी अस्पतालों, कारपोरेट हेल्थ केयर, इण्टरनेट की सूचनाओं, और डॉक्टरों की विशाल श्रृंखला मौजूद है। फिर भी नयी पीढ़ी भी उलझन में है, क्योंकि विकल्प ज्यादा हैं लेकिन सही चयन करने का संकट भी उतना ही बड़ा है। सोशल मीडिया पर उपलब्ध स्वास्थ्य सम्बन्धित जानकारियाँ कभी-कभी गलत या अधूरी होती हैं, जिसे देखकर लोग अपने-आप डॉक्टर बन जाते हैं। यह नुकसानदायक हो सकता है, इसलिए सही जानकारी के लिए प्रमाणित स्रोतों और योग्य चिकित्सकों पर भरोसा करना चाहिए।

इन सब बातों को मिलाकर देखें, तो चिकित्सा किसी एक हाथ में सौंपी जाने वाली चीज नहीं है। यह हम सबकी साझी जिम्मेदारी है। सरकार के पास नीति बनाने और उसे अमल में लाने की ताकत है, समाज के पास व्यवहार बदलने की क्षमता है, निजी क्षेत्र के पास तकनीकी और आर्थिक संसाधन हैं, और व्यक्ति के पास अपनी जीवन-शैली व निजी आदतें सुधारने की आजादी है। अगर ये सभी पक्ष एक-दूसरे के पूरक बनें, तो एक ऐसा वातावरण तैयार किया जा सकता है जहाँ रोगों की रोकथाम प्राथमिकता पर हो, इलाज की सुविधाएँ सबको समान रूप से मिलें, लालच या मुनाफे के चलते मरीजों का शोषण न हो, और भय या अन्धविश्वास की जगह जानकारी व विश्वास का माहौल हो। यह आसान नहीं है, पर पूरी तरह असम्भव भी नहीं।

इस पूरी बहस का निष्कर्ष यही है कि चिकित्सा किसकी जिम्मेदारी है, का सरल उत्तर यह है कि यह हम सबकी साझा जिम्मेदारी है। इसे पूरी तरह न तो सरकार पर छोड़ा जा सकता है और ना ही बाजार पर। सब लोग मिलकर एक जनोपयोगी व्यवस्था बना सकते हैं, जो चिकित्सा-व्यवस्था को व्यापारिक मुनाफे से ऊपर रखे। अगर हम ऐसा कर पाएँ, तो एक दिन इलाज के नाम पर होने वाली लूट और लापरवाही के खिलाफ आवाज उठाने की आवश्यकता कम होगी, और हम ज्यादा स्वस्थ, जागरूक, और खुशहाल समाज का निर्माण कर सकेंगे। तब हमें बार-बार यह पूछने की जरूरत नहीं पड़ेगी कि चिकित्सा किसकी जिम्मेदारी है, क्योंकि उसका उत्तर हमारे प्रयासों में स्वतः झलकेगा, और हर व्यक्ति को उसका अधिकार मिलेगा।

(लेखिका अवधारणात्मक सहयोग के लिए भूपिन्दर सिंह जस की आभारी हैं।)

■

आयुर्वेद में शरीर और सहानुभूति

पुष्या ए गौतम

जब शरीर को शारीरिक और अनुभवात्मक दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो कल्याण और बीमारी के विचार केवल स्थिर 'लक्षणों' तक नहीं रहते, बल्कि यह व्यक्तिपरक अनुभव में झलकते हैं। यानी, यदि कोई यह पूछे, ''यदि मेरे शरीर में किसी प्रकार के रोग के लक्षण नहीं हैं, लेकिन मैं अस्वस्थ महसूस करता हूँ, तो क्या मुझे रोगी माना जाएगा?'', तो आयुर्वेद का उत्तर शायद यही होगा, ''हाँ, यदि आप अस्वस्थ महसूस करते हैं, तो आप रोगी हैं।''

''शरीर और मन एक-दूसरे के प्रतिबिम्ब हैं।'' यह वाक्य चरक संहिता में मिलता है, जो लगभग तीन हजार साल पहले रचित एक प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थ है। तब से चिकित्सा-पद्धति और आयुर्वेद दोनों में काफी विकास हुआ है, फिर भी शरीर और मन के बीच सम्बन्ध पर उठने वाले प्रश्न आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जैसे वे तीन हजार साल पहले थे, बल्कि शायद और भी ज्यादा। इस प्रकार, जैसे अनगिनत दार्शनिकों, साधिकाओं और चिकित्सिकाओं ने मुझसे पहले यह सवाल किया, वैसे ही मैं भी पूछती हूँ–''क्या हम केवल शरीर हैं, या केवल मन?''; ''क्या हम दोनों का संयोजन है?'' 'क्या हम न तो शरीर हैं, न ही मन?' या 'क्या हम शरीर और मन से परे हैं?' मेरा उद्देश्य, इसके बजाय, इन सवालों को थोड़ा गहरे स्तर पर समझना है, विशेष रूप से आयुर्वेद की स्वास्थ्य, कल्याण, रोग और पीड़ा की धारणाओं के सन्दर्भ में।

इसके लिए, यह निबन्ध आयुर्वेद की 'शरीरिकता (शारीरिक अस्तित्व)' को शरीर-मन के रिश्ते के रूप में समझने की एक संक्षिप्त पड़ताल से शुरू होगा। इसके बाद यह इस बात पर ध्यान केन्द्रित करेगा कि शरीर की इस समझ का आयुर्वेद के उपचारात्मक दृष्टिकोणों पर कैसे प्रभाव पड़ता है, विशेष रूप से चिकित्सक-रोगी सम्बन्ध पर। अन्त में, यह एक विचार-विमर्श के साथ समाप्त होगा, जिसमें समानुभूति की भूमिका को एक अहम् बुनियाद के रूप में देखा जाएगा, जिसके आधार पर चिकित्सक और रोगी के बीच सहयोगात्मक और सम्बन्धपरक संवाद सम्भव हो पाता है आगे बढ़ने से पहले, मैं आयुर्वेद से मेरी अभिप्राय को संक्षेप में स्पष्ट करना चाहती हूँ।

आजकल, जब हम 'आयुर्वेद' शब्द सुनते हैं, तो हमारे सामने कई तस्वीरें और विचार आते हैं। कहीं हर्बल चाय और फेयरनेस क्रीम की चर्चा होती है, तो कहीं पंचकर्म और मसाज स्पा की सेवाएँ दी जाती हैं। 'आयुर्वेद' शब्द अब एक ऐसी धारा बन चुका है, जिसमें बहुत सारे विचार, उत्पाद और सेवाएँ समाहित हो गयी हैं, कि इसे समझ पाना एक जटिल कार्य बन गया है। यह सवाल उत्पन्न होता है–क्या सचमुच, इनमें से कोई भी चीज 'असली' आयुर्वेद मानी जा सकती है?''

लेकिन एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट है–आज के समय में, खासकर भारत में, आयुर्वेद की कई परम्पराएँ जीवित हैं, जो धर्म, जाति, भूगोल और ज्ञान की विविध संस्कृतियों से जन्मी हैं। इन सबके बीच, मैं इस निबन्ध में 'आयुर्वेद' शब्द का उपयोग तीन प्रमुख संस्कृत चिकित्सा ग्रन्थों–सुश्रुत संहिता, चरक संहिता और अष्टांग हृदय–के सन्दर्भ में कर रही हूँ। इन ग्रन्थों में आयुर्वेद

लेखिका आयुर्वेदिक चिकित्सक और शिक्षाविद हैं।
+91 70229 23372
pushya.a.gautama@gmail.com

की जो परिभाषाएँ और सिद्धान्त हैं, वही मेरे दृष्टिकोण का आधार हैं।

इसलिए, जब मैं 'आयुर्वेद' कहती हूँ, तो यह इन महान ग्रन्थों के साहित्यिक दायरे तक सीमित है। हालाँकि, साथ ही, मैं आयुर्वेद का उपयोग समकालीन आयुर्वेदिक क्लीनिकों और अस्पतालों में प्रचलित चिकित्सा परम्पराओं के सन्दर्भ में भी करती हूँ, जहाँ इसकी परम्पराएँ और उपचार विधियाँ आज भी जीवित हैं।''

आयुर्वेद शब्द का उद्गम दो शब्दों से हुआ है–'आयु' (जीवन) और 'वेद' (ज्ञान)। अतः आयुर्वेद का सरल अनुवाद 'जीवन का ज्ञान' या 'जीवित रहने का ज्ञान' हो सकता है। चरक संहिता में जीवन (आयु) को शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयुक्त रूप में परिभाषित किया गया है। हम एक बुनियादी सवाल पूछ सकते हैं–आयुर्वेद के अनुसार शरीर क्या है?

चरक संहिता में शरीर को समझने के दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं। पहले, यह शारीरिक शरीर है, जो चार अंगों, सिर और धड़ का संयोजन है। इस सन्दर्भ में, शरीर का होना शारीरिक अस्तित्व का होना है। दूसरे, शरीर को अनुभव का पात्र माना जाता है–अर्थात्, जीवन का अनुभव शरीर के माध्यम से और उसी में होता है। इस प्रकार, शरीर का 'क्षेत्र' शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अनुभवों के साथ विस्तारित होता है, जो एक व्यक्ति के जीवन का निर्माण करते हैं। यह एक दिलचस्प प्रश्न उठाता है। क्या शरीर अनुभव करता है, या मन? इस विषय पर कई दार्शनिक चर्चाएँ हैं–अनुभव की प्रकृति पर। लेकिन शास्त्रीय आयुर्वेद ग्रन्थों में इस विषय पर एक अद्वितीय तरीके से चर्चा की गयी है। अस्टांग हृदय में कहा गया है कि शरीर और मन का सम्बन्ध उस घी के समान है जो लोहे के तवे पर मोटे तौर पर फैला होता है। जब तवा गर्म होता है, घी भी गर्म होता है, और इसके विपरीत–एक को गर्म करने से दूसरा भी गर्म हो जाता है। इसलिए अस्टांग हृदय के अनुसार, भले ही इन दोनों के सिद्धान्त में भेद हो, वास्तविक जीवन में जब बात मन की होती है तो बात शरीर की भी होती है, और जब बात शरीर की होती है तो मन की भी। हरिता संहिता (जो एक बाद की आयुर्वेद ग्रन्थ है, जो 6वीं या 7वीं शताब्दी की है) पश्चिमी सिद्धान्तों के विपरीत यह सुझाव देती है कि मन केवल मस्तिष्क/सिर में स्थित नहीं है, बल्कि यह पूरे शरीर में व्याप्त है। तो, जब हम शरीर के बारे में इस तरह बात करते हैं, तो क्या हम 'मानसिक शरीर' या 'शरीरात्मक मन' की बात कर रहे हैं, या शायद कुछ इससे भी परे? मैं आपको इस पर विचार करने के लिए छोड़ती हूँ।

अब मैं यह पूछती हूँ–आयुर्वेद, एक चिकित्सा विज्ञान के रूप में, शरीर की इस समझ का किस प्रकार उपयोग करती है? यह अपने स्वास्थ्य और कल्याण के विचारों को कैसे सूचित करती है? इसे थोड़ा बेहतर समझने के लिए, हम चिकित्सक-रोगी की संवाद को उदाहरण के रूप में लेते हैं। जब शरीर को शारीरिक और अनुभवात्मक दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो कल्याण और बीमारी के विचार केवल स्थिर 'लक्षणों' तक नहीं रहते, बल्कि यह व्यक्तिपरक अनुभव में झलकते हैं।'' यानी, यदि कोई यह पूछे, ''यदि मेरे शरीर में किसी प्रकार के रोग के लक्षण नहीं हैं, लेकिन मैं अस्वस्थ महसूस करता हूँ, तो क्या मुझे रोगी माना जाएगा?'', तो आयुर्वेद का उत्तर शायद यही होगा, ''हाँ, यदि आप अस्वस्थ महसूस करते हैं, तो आप रोगी हैं।'' आयुर्वेद में कल्याण की समझ में यह व्यक्तिपरक अनुभव का प्राथमिककरण भी पाया जाता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में कल्याण के सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है 'धातु साम्य'–धातुओं का सन्तुलन। आयुर्वेद के अनुसार, शरीर, जैसा कि ऊपर व्यापक रूप से चर्चा की गयी है, सात घटक धातुओं का संयोजन है। विचार यह है कि जब धातुएँ सन्तुलन और सामंजस्य की स्थिति में होती हैं, तब व्यक्ति स्वस्थ होता है; जबकि जब धातुएँ असन्तुलित होती हैं, तब रोग और बीमारी उत्पन्न होती है। लेकिन कैसे जाना जाये कि धातुएँ सन्तुलित हैं या नहीं? चरक संहिता में निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं–दर्द का शमन (यदि हो), स्वर और रंग की बहाली, पूर्ण शक्ति की पुनः प्राप्ति, मजबूत भूख, भोजन खाते समय स्वाद का अनुभव, समय पर भोजन और सही तरीके से पाचन, समय पर निद्रा, प्रसन्नतापूर्वक सुबह उठना, और सभी रूपों में, अपरिवर्तित मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ। यदि हम इन लक्षणों को पुनः पढ़ें, तो यह स्पष्ट होता है कि इन लक्षणों का मूल्यांकन केवल चिकित्सक द्वारा अकेले या 'क्लिनिकल' दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। इन लक्षणों का मूल्यांकन रोगी की आत्म-चिन्तन और साझा करने से ही हो सकता है। अर्थात्, रोगी की सक्रिय भागीदारी के बिना धातु-सन्तुलन का पूर्ण निर्धारण नहीं किया जा सकता। यह दिलचस्प है कि आयुर्वेद में कल्याण का निर्धारण, जो इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है, एक सहयोगात्मक प्रक्रिया है, जिसमें चिकित्सक और रोगी दोनों शामिल होते हैं। अर्थात्, यदि चिकित्सक रोगियों को खुद को समझने के लिए ज्ञान के ढाँचे प्रदान करते हैं, तो रोगी अपने आत्म-निरीक्षण और साझेदारी के माध्यम से इस 'ज्ञान' के उभरने की अनुमति देते हैं। इसलिए, कल्याण स्थिर या निश्चित नहीं है, बल्कि यह प्रवाहशील है, और चिकित्सक और रोगी के बीच साझा अनुभवों में उभरता है ऐसा आत्म-निरीक्षण आयुर्वेदिक ग्रन्थों के कई पहलुओं में समाहित है।

उदाहरण के लिए, यह तय करते समय कि किस मौसम में कौन-सा भोजन खाया जाये, किसी विशेष मौसम में औषधीय काजल लगाना चाहिए या नहीं, कितनी मात्रा में व्यायाम करना चाहिए, आदि, व्यक्तिपरक निर्णयों का बहुत महत्त्व होता है। अर्थात्, आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जो 'अच्छे जीवन के तरीके' के बारे में सिफारिशें दी गयी हैं, वे अपनी प्रकृति में न तो आदेशात्मक होती हैं, न ही निष्कर्षात्मक, बल्कि आत्म-निरीक्षण पर आधारित होती हैं–यह कि रोगी एक विशेष उपचार या आहार के प्रति कैसा महसूस करता है या प्रतिक्रिया देता है, यही यह निर्धारित करेगा कि वह इसे अपनाएगा या नहीं, और कितना अपनाएगा। इसलिए, भले ही किसी विशेष मांस को सर्दी के मौसम में खाने की सिफारिश की जाये, अगर व्यक्ति को उसे पचाना कठिन लगता है, तो यह स्वाभाविक रूप से एक ऐसा भोजन बन जाता है जिससे बचना चाहिए, और एक अलग, उचित रूप से, स्थानीय रूप से

उपलब्ध विकल्प को चुना जाना चाहिए। इस प्रकार, ऐसे 'शारीरिक' हस्तक्षेप स्वाभाविक रूप से मानक नहीं होते हालाँकि यह शारीरिक हस्तक्षेपों (जैसे व्यायाम, आहार, आत्म-देखभाल आदि) पर लागू होता है, यह ग्रन्थों में अनुष्ठानिक सिफारिशों पर नहीं लागू होता। इसके विपरीत, अनुष्ठानिक सिफारिशें लगभग हमेशा आदेशात्मक होती हैं।

उदाहरण के लिए, जब ग्रन्थ यह कहते हैं कि अच्छा जीवन जीने के तरीकों में से एक अपने शिक्षक या बड़ों के सामने सिर झुकाना या कुछ यज्ञ (बलि) करना शामिल है, तो इसमें आत्म-निरीक्षण की कोई भूमिका नहीं होती। ऐसे सिद्धान्त, जो धर्मशास्त्रों से काफी हद तक उधार लिये गये होते हैं, सामान्यतः मानक होते हैं और ये सिफारिशों से अधिक निर्देशात्मक होते हैं। जैसे-जैसे कोई प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों को पढ़ता है, उसे यह समझ में आता है कि ये एक सामान्य संग्रह नहीं हैं, बल्कि विभिन्न (कभी-कभी परस्पर विरोधी) दृष्टिकोणों का संग्रह हैं, जो आत्म की प्रकृति से लेकर रोग के निदान तक कई विषयों पर आधारित होते हैं। इस विरोधाभास के बावजूद, हम वर्तमान चर्चा के उद्देश्य के लिए उन दृष्टिकोणों को आगे बढ़ाएँगे जो चिकित्सक-रोगी सम्बन्ध की परस्पर प्रकृति से सम्बन्धित हैं। इस सन्दर्भ में, इस निबन्ध के शेष भाग में हम आयुर्वेदिक ग्रन्थों में चिकित्सक-रोगी संवाद के दायरे में समानुभूति (एम्पैथी) के अर्थ और भूमिका की समीक्षा करेंगे।

अब तक सम्बन्धों पर जो जोर दिया गया है, उसे ध्यान में रखते हुए यह सवाल उठ सकता है–एक चिकित्सक की प्रकृति कैसी होनी चाहिए, जो पदानुक्रम और निश्चित 'निदान' की स्पष्टता को छोड़कर रोगी के साथ समान, सम्बन्धात्मक और अनिश्चित ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर सके? चरक संहिता में एक अच्छे चिकित्सक के गुणों में सबसे पहले दया और समानुभूति (एम्पैथी) का उल्लेख किया गया है। इसका मतलब यह है कि चिकित्सक को सबसे पहले, अपनी पूरी आत्मा से यह चाहने की आवश्यकता है कि वह पीड़ा को समझे, मदद करे और उसे ठीक करे। इसका मतलब यह नहीं है कि चिकित्सक खुद पीड़ा से मुक्त है (चाहे शारीरिक रूप से हो या अस्तित्वगत रूप से), बल्कि इसका मतलब यह है कि वह फिर भी उपचार करना चाहता है–चाहे वह खुद हो, रोगी हो, या पीड़ा हो। आयुर्वेद में चिकित्सक और रोगी के बीच मूलतः पदानुक्रम रहित सम्बन्ध का कारण शायद यह भी है कि चिकित्सक स्वयं पीड़ा से बाहर नहीं है–वह इस कारण से उपचार उस दृष्टिकोण से नहीं देता जो रोगी की पीड़ा से अनुभवात्मक और ज्ञानात्मक रूप से दूर हो। यदि पीड़ा आपसी है (हालाँकि पीड़ा की प्रकृति और अनुभव भिन्न हो सकते हैं), तो उसका उपचार भी आपसी होना चाहिए। ऐसे सन्दर्भ में, समानुभूति एक संसाधन के रूप में मौन विधि और निराकार निदानात्मक ज्ञान के संकलन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है, हालाँकि वह ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। समानुभूति वह अप्रकट आधार बन जाती है, जिस पर चिकित्सक-रोगी सम्बन्ध अपनी रूपरेखा ग्रहण करता है। यह वह गहरी और समृद्ध बुनियाद बन जाती है, जिस पर पीड़ा, बीमारी और कल्याण के साझा अर्थ आकार लेते हैं। और अपनी स्वाभाविकता से, यह वह स्थिति बन जाती है जहाँ उपचार की शुरुआत होती है और उसे कार्यान्वित किया जाता है। सच्चाई यह है कि आधुनिक चिकित्सा विचार और अभ्यास, भले ही समानुभूति के मूल्य को स्वीकार करते हैं, उसे बीमारी के मौन विधि और निराकार चिकित्सीय ज्ञान के मूल्य से काफी नीचे मानते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि सभी आधुनिक चिकित्सा चिकित्सक समानुभूति से वंचित हैं, या सभी आयुर्वेद चिकित्सक इसे रखते हैं। वास्तव में, आज के समय में, चाहे कोई भी प्रणाली हो, 'चिकित्सा' शब्द, जो यूरोपीय दृष्टिकोण से प्रभावित है, ने आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा की सीमाओं, अपेक्षाएँ और उपकरण अपनाए हैं। इसका मतलब यह है कि आजकल के कई आयुर्वेद चिकित्सक, जो बायोमेडिकल क्लिनिक्स में बैठे होते हैं और बायोमेडिकल परिधान पहनते हैं, उनके पास ऐसे अभ्यास होते हैं जो कई तरीकों से एलोपैथी चिकित्सा के समान 'रूप' वाले होते हैं। उदाहरण के लिए, रोगी से (सांकेतिक रूप से और शारीरिक रूप से) दूरी बनाये रखने की प्रवृत्ति, जो हमेशा क्लिनिक की मेज के दूसरी ओर बैठा होता है, और एक निश्चित रोग निदान और उसके चिकित्सीय उपचार को खोजने की जल्दी, ये तत्त्व आधुनिक आयुर्वेद चिकित्सक के अभ्यास में भी उतने ही होते हैं, जितने एक एलोपैथिक चिकित्सक के अभ्यास में। इसलिए, समानुभूति की आवश्यकता, न केवल चिकित्सक के दृष्टिकोण की गुणवत्ता के रूप में, बल्कि बुनियादी रूप से पदानुक्रमों को नष्ट करने, और चिकित्सक-रोगी संवाद में आत्म-निरीक्षण और आपसीपन को शामिल करने के रूप में, शायद आज पहले से कहीं अधिक जरूरी है।

चरक संहिता में एक अच्छे चिकित्सक के गुणों में सबसे पहले दया और समानुभूति (एंपैथी) का उल्लेख किया गया है। इसका मतलब यह है कि चिकित्सक को सबसे पहले, अपनी पूरी आत्मा से यह चाहने की आवश्यकता है कि वह पीड़ा को समझे, मदद करे और उसे ठीक करे।

अन्त में, मैं आपसे कुछ सवाल छोड़ती हूँ। आज के इस अद्वितीय संचार और जानकारी के युग में, क्या चिकित्सा पेशेवर विभिन्न विषयों की सीमाओं को पार कर सकते हैं, और आपस में संवाद के अनिश्चित क्षेत्रों में प्रवेश कर सकते हैं? क्या समानुभूति की भूमिका या 'शारीरिकता' की अवधारणा जैसे विशेष क्षेत्रों को पहचाना जा सकता है? ऐसे क्षेत्र किसी भी चिकित्सा-प्रणाली के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और इन्हें बहुविषयी संवाद से लाभ हो सकता है। स्वास्थ्य चाहने वालों और अन्य सम्बन्धित पक्षों को ऐसे संवादों और क्षेत्रों का हिस्सा कैसे और किस तरीके से बनाया जा सकता है? क्या दुनिया ऐसे संवाद के लिए तैयार है?

(अनुवादकः अभिजीत धामणेकर)

■

महामारी और भारतीय चिकित्सा सेवा प्रणाली

सपना मिश्रा

निजी स्वास्थ्य क्षेत्र में भी विविधता है और इसे लाभकारी और गैर-लाभकारी में वर्गीकृत किया जा सकता है। हालाँकि, अधिकतर निजी स्वास्थ्य क्षेत्र लाभकारी हैं, जो मुख्य रूप से असीमित लाभ की प्रेरणा से संचालित होते हैं। पिछले दो दशकों में कारपोरेट अस्पतालों की भारी वृद्धि ने स्वास्थ्य सेवा का गहन कारपोरेटीकरण किया है। निजी स्वास्थ्य क्षेत्र के समर्थक तर्क देते हैं कि यह मरीजों की जरूरतों के लिए अधिक कुशल और सक्षम है, जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली अकुशल और भ्रष्ट है। लेकिन सच्चाई यह है कि निजी क्षेत्र की 'गुणवत्ता' एक झूठा दावा है।

लेखिका आन्ध्र प्रदेश के एसआरएम विश्वविद्यालय, ईश्वरी स्कूल ऑफ लिबरल आर्ट्स में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+91 99074 85708

भारतीय स्वास्थ्य सेवा प्रणाली एक जटिल और बहुआयामी संरचना है, जो देश की विशाल आबादी की विविध स्वास्थ्य आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करती है। हालाँकि, इसके बावजूद, प्रणाली में कई गहन समस्याएँ हैं जिन्हें वर्षों से झेला जा रहा है। जब भी हम भारत की स्वास्थ्य-प्रणाली पर चर्चा करते हैं, तो अक्सर सरकारी अस्पतालों की निन्दा की जाती है। लोग कहते हैं कि सरकारी अस्पतालों में इलाज नहीं होता, वहाँ केवल मरने के लिए जाना जाता है, डॉक्टर अच्छा व्यवहार नहीं करते, और देखभाल की गुणवत्ता बेहद खराब होती है। इसके विपरीत, निजी अस्पतालों पर भरोसा जताया जाता है क्योंकि स्वास्थ्य बीमा इनकी सेवाओं को कवर करता है और ये जटिल बीमारियों का भी इलाज कर सकते हैं।

कई दशकों से किये गये शोध अध्ययनों ने यह साबित किया है कि भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली में लम्बे इन्तजार, भीड़-भाड़, स्वास्थ्य कर्मचारियों का सही व्यवहार न करना, कागजी कार्यवाही की भारी मात्रा, दवाओं की कमी, अवैध भुगतान और अधिक भीड़ जैसे कई गम्भीर मुद्दे हैं। इन सबके बावजूद, यह प्रणाली गरीब और वंचित वर्गों के लिए देखभाल प्रदान करती रही है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली का डिजाइन हर किसी को बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने के लिए किया गया है, चाहे उनकी आर्थिक स्थिति कैसी भी हो। इसका उद्देश्य लोगों के समुदायों की सेवा करना और उन्हें विश्वसनीय स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना है, ताकि वे अपनी जरूरतों के अनुसार देखभाल प्राप्त कर सकें।

हालाँकि, सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। कम वित्त-पोषण, भ्रष्टाचार, खराब बुनियादी ढाँचे और स्टाफ की कमी जैसी समस्याएँ इसे कमजोर बना रही हैं। इन चुनौतियों के कारण, पिछले तीन दशकों में भारतीय सरकार की आर्थिक नीतियों ने सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली को और अधिक कमजोर कर दिया है, जिससे इसकी समस्याएँ और भी गहराई तक पहुँच गयी हैं। इस स्थिति पर विभिन्न अनुशासनों के विद्वानों, सिविल सोसायटी संगठनों के सदस्यों, और कार्यकर्ताओं ने विस्तार से चर्चा की है। सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली के क्षरण और नागरिकों के बीच विश्वास की हानि के साथ, देश में निजी क्षेत्र की तीव्र वृद्धि हो रही है। स्वतन्त्रता के समय, निजी क्षेत्र ने केवल 5-10% कुल रोगी देख-भाल प्रदान की थी, लेकिन आज यह लगभग 80% आउटपेशेण्ट और 60% इनपेशेण्ट देखभाल का प्रबन्धन करता है। भारत के निजी स्वास्थ्य क्षेत्र को दुनिया की सबसे अधिक निजीकृत और लगभग अनियमित स्वास्थ्य सेवा-प्रणालियों में से एक माना जाता है।

निजी स्वास्थ्य क्षेत्र में भी विविधता है और इसे लाभकारी और गैर-लाभकारी में वर्गीकृत

किया जा सकता है। हालाँकि, अधिकतर निजी स्वास्थ्य-क्षेत्र लाभकारी हैं, जो मुख्य रूप से असीमित लाभ की प्रेरणा से संचालित होता है। पिछले दो दशकों में कारपोरेट अस्पतालों की भारी वृद्धि ने स्वास्थ्य-सेवा का गहन कारपोरेटीकरण किया है। निजी स्वास्थ्य क्षेत्र के समर्थक तर्क देते हैं कि यह मरीजों की जरूरतों के लिए अधिक कुशल और सक्षम है, जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली अकुशल और भ्रष्ट है। लेकिन सच्चाई यह है कि निजी क्षेत्र की 'गुणवत्ता' एक झूठा दावा है। एक सर्वे के अनुसार, भारत में स्वास्थ्य व्यय ने लगभग पाँच करोड़ 55 मिलियन लोगों को गरीबी रेखा के नीचे धकेल दिया है, जबकि 7% घरों ने मासिक गैर-खाद्य व्यय का एक-चौथाई से अधिक स्वास्थ्य पर खर्च किया है। इस खर्च का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा दवाओं की खरीद पर जाता है। इसका मतलब यह है कि जब एक छोटा हिस्सा ही स्वास्थ्य बीमा की सहायता से निजी अस्पतालों की देखभाल प्राप्त कर सकता है, तो गरीब लोग अपनी स्वास्थ्य देखभाल के लिए संघर्ष करते रहते हैं। ऐसा लगता है कि बहुप्रचारित उच्च प्रचारित स्वास्थ्य बीमा योजनाओं ने उनके जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया है।

भारत में विश्व की सबसे बड़ी स्वास्थ्य बीमा योजनाओं में से एक, आयुष्मान भारत-प्रधानमन्त्री जन आरोग्य योजना भी अपनी चुनौतियों से मुक्त नहीं है। अक्सर सुनने में आता है कि गरीब लोग बीमा के साथ निजी अस्पतालों में देखभाल की माँग करने की कोशिश करते हैं, तो उन्हें अनेक समस्याएँ झेलनी पड़ती हैं जैसे कि देखभाल से इनकार, अनावश्यक प्रक्रियाएँ और अनैतिक प्रथाएँ। कई शोध अध्ययनों ने इसे दर्ज किया है। बार-बार, कई लोगों ने यह जोर दिया है कि स्वास्थ्य बीमा कार्यात्मक सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली का विकल्प नहीं हो सकता है।

साथ ही, हमारे देश में बिना लाभ की चाहत रखने वाली कई स्वयंसेवी संस्थाएँ और धार्मिक संस्थाएँ हैं, जो सीमित साधनों के बावजूद हाशिये के समुदायों के लिए स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान कर रही हैं। ये संगठन लगातार बेहतर सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा और सक्षम स्वास्थ्य कर्मचारियों की माँग कर रहे हैं। पेशेवर और कार्यकर्ता सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली की मजबूती की माँग कर रहे हैं। यह बार-बार तर्क दिया गया है कि लोग निजी क्षेत्र को इसलिए नहीं चुनते कि उनकी निजी 'गुणवत्ता' बेहतर होती है, बल्कि इसलिए चुनते हैं क्योंकि उन्हें सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली पर भरोसा नहीं है।

किन्तु, कोविड-19 महामारी ने भारतीय स्वास्थ्य-प्रणाली की वास्तविक स्थिति को उजागर कर दिया। महामारी के दौरान, स्वास्थ्य सेवाओं की माँग में अभूतपूर्व वृद्धि के कारण स्वास्थ्य-प्रणालियाँ गम्भीर रूप से बाधित हो गयीं। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के लिए स्थिति और भी खराब थी। महामारी ने निजी स्वास्थ्य-प्रणाली की कमजोरियों को स्पष्ट रूप से सामने लाया। निजी अस्पतालों में मरीजों को मनाकर दिया गया, इलाज में देरी हुई और आवश्यक दवाओं की कमी रही। इसके बावजूद, कुछ निजी अस्पतालों ने सरकारी हस्तक्षेप के बाद मरीजों के लिए दरवाजे खोले। हालाँकि, इस दौरान देखा गया कि निजी अस्पतालों ने इलाज के लिए अत्यधिक शुल्क वसूले, जबकि सरकार द्वारा कड़े उपाय लागू किये गये थे। यह स्थिति यह साबित करती है कि निजी स्वास्थ्य क्षेत्र को नियन्त्रित और विनियमित करने की आवश्यकता है।

महामारी ने यह भी दिखाया कि भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली में गम्भीर कमजोरियाँ हैं। हालाँकि, कुछ राज्यों जैसे केरल, तमिलनाडु और महाराष्ट्र की सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणालियों ने बेहतर प्रदर्शन किया, क्योंकि इन राज्यों की प्रणाली अपेक्षाकृत मजबूत थी। ये राज्य महामारी के दौरान अपने स्वास्थ्य कर्मचारियों और संसाधनों का प्रभावी उपयोग करके रोगियों की बेहतर देखभाल कर सके। यह दिखाता है कि एक मजबूत सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली संकट के समय में कितना महत्त्वपूर्ण हो सकती है। दूसरी ओर, अत्यधिक निर्भरता निजी क्षेत्र पर रखने से प्रणाली की मजबूती पर प्रश्न उठते हैं, क्योंकि निजी क्षेत्र केवल उन लोगों के लिए सुविधाएँ प्रदान करता है जो उनके पास हैं, जबकि गरीब और वंचित वर्गों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार स्वास्थ्य सेवाएँ नहीं मिल पातीं।

महामारी के बाद, स्वास्थ्य-प्रणाली को पुनर्गठित करने की माँग और भी बढ़ गयी। नीति आयोग द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट ने यह सुझाव दिया कि महामारी ने भारत की स्वास्थ्य-व्यवस्था के विकास के लिए कई अवसर प्रदान किये हैं। हालाँकि, इस रिपोर्ट ने निजी क्षेत्र के हितों को प्रमुखता दी, जिससे यह संकेत मिलता है कि निजी स्वास्थ्य क्षेत्र को आगे बढ़ाने की नीति जारी है। यह देखा जा रहा है कि निजी अस्पतालों का विस्तार विशेषकर टियर 2 और टियर 3 शहरों में एक आकर्षक निवेश का अवसर प्रदान कर रहा है। हालाँकि, यह भी जरूरी है कि निजी क्षेत्र को विनियमित किया जाये ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे सभी वर्गों के लिए उपयुक्त और सुलभ स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करें।

महामारी ने यह भी रेखांकित किया कि निजी स्वास्थ्य-प्रणाली को नियन्त्रित और विनियमित करने का अवसर है। कारपोरेट और निजी स्वास्थ्य-व्यवस्था लाभ को प्राथमिकता देती है, जिससे गरीब वर्गों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार देखभाल प्राप्त नहीं हो पाती। हालाँकि, सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली ने मोर्चे पर नेतृत्व किया, दुर्भाग्य से, इसके अकेले प्रयास पर्याप्त नहीं थे। निजी क्षेत्र को विनियमित करने की आवश्यकता एक प्रमुख कथा के रूप में सामने आयी और यह सरकारी आदेशों में प्रतिबिम्बित हुई। भारतीय सुप्रीम कोर्ट ने केन्द्र सरकार को आपदा प्रबन्धन अधिनियम के तहत अपनी शक्ति का उपयोग करके राज्यों को निजी अस्पतालों की लागतों को विनियमित करने के निर्देश दिये। हालाँकि, निजी क्षेत्र ने इसे पसन्द नहीं किया और निजी डॉक्टरों और सरकार के निर्णय को विनियमित करने के बीच टकराव की रिपोर्ट की गयी। कई विशेषज्ञों ने तर्क दिया कि महामारी ने हमें निजी क्षेत्र पर कुछ नियन्त्रण विनियमन लगाने का अवसर दिया। निजी अस्पतालों का राष्ट्रीयकरण करने की बात भी शुरू हुई है, जो एक व्यापक चर्चा का विषय बन गयी है।

स्वास्थ्य-प्रणाली के भीतर देखभाल के मूल विचार को पुनर्स्थापित करने के बारे में कई विचार सामने आये हैं। इसके लिए, यह बुद्धिमानी होगी कि हम 1946 की भोरे-भोर

समिति की रिपोर्ट पर लौटें, जिसने भारत में लोग-केन्द्रित सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली की नींव रखी थी। जबकि भारतीय राज्य ने अपने नागरिकों की देखभाल की कोशिश पर्याप्त नहीं की। भारत सरकार कोविड-19 के समय के अनुभवों को नजरअन्दाज करते हुए और पिछली गलतियों से सीखने से इनकार करते हुए स्वास्थ्य सेवा के निजीकरण की नीति पर कायम रही है। यह अपनी पिछली गलतियों के प्रति लापरवाह रही और नीति आयोग द्वारा निगमीकरण को बढ़ावा देना इस बात का सबूत है। जबकि हमें एक ऐसी स्वास्थ्य-प्रणाली की जरूरत है जो सामाजिक न्याय और समानता पर आधारित हो और सभी लोगों के लिए उपयुक्त हो, जिसका मतलब है कि इसे सभी लोगों की देखभाल करनी चाहिए, बिना किसी भेदभाव के।

इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में पारदर्शिता और जवाबदेही को बढ़ावा देना भी जरूरी है। सरकारी अस्पतालों में भ्रष्टाचार और दवाओं की कमी जैसी समस्याओं को खत्म करने के लिए सख्त कदम उठाने होंगे। निजी क्षेत्र में भी उचित विनियमन की आवश्यकता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे अपने लाभ के लिए मरीजों के साथ दुराचार नहीं करें। इसके लिए, सरकारी निरीक्षण और समीक्षा समितियों की स्थापना की जानी चाहिए जो नियमित रूप से अस्पतालों की कार्य-प्रणाली की जाँच करें और अनियमितताओं का खुलासा करें। इससे न केवल स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार होगा, बल्कि जनता का निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में विश्वास भी बढ़ेगा।

स्वास्थ्य बीमा प्रणाली को भी सुधारने की आवश्यकता है। वर्तमान में, कई लोग स्वास्थ्य बीमा का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं, क्योंकि निजी बीमा योजनाओं की लागत अधिक है और वे जटिल बीमारियों का इलाज करने में असमर्थ हैं। आयुष्मान भारत जैसी योजनाओं को अधिक व्यापक और सुलभ बनाया जाना चाहिए ताकि सभी वर्गों के लोग स्वास्थ्य बीमा का लाभ उठा सकें। इसके अलावा, सार्वजनिक बीमा योजनाओं में पारदर्शिता और कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए डिजिटल तकनीकों का उपयोग किया जा सकता है, जिससे लाभार्थियों को आसानी से अपनी बीमा क्लेम्स का प्रबन्धन करने में मदद मिल सके। डिजिटल स्वास्थ्य रिकॉर्ड्स और टेलीमेडिसिन जैसी तकनीकें न केवल स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच को बढ़ाती हैं, बल्कि उनकी गुणवत्ता को भी सुनिश्चित करती हैं।

महामारी ने यह भी साबित किया कि आपदा प्रबन्धन में एक मजबूत सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली कितनी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। कोविड-19 जैसी आपदाओं के समय, सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली ने दिखाया कि यह कैसे तेजी से प्रतिक्रिया कर सकती है और समुदायों की जरूरतों को पूरा कर सकती है। इसका आशय है कि एक मजबूत सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली ही देश को भविष्य में आने वाली स्वास्थ्य आपदाओं से निपटने में सक्षम बना सकती है। इसके लिए, आपदा प्रबन्धन के लिए विशेष इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए जो तेजी से संकटों का समाधान कर सकें और स्वास्थ्य सेवाओं को सुनिश्चित कर सकें। इसके साथ ही, समुदाय आधारित स्वास्थ्य कार्यक्रमों को भी बढ़ावा देना चाहिए, जिससे स्थानीय स्तर पर स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान हो सके और समुदाय स्वयं अपनी स्वास्थ्य देखभाल में सक्रिय भूमिका निभा सके। मन-शरीर चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली की मजबूती भारत की स्वास्थ्य सेवा-प्रणाली के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। कोविड-19 महामारी ने कई कमजोरियों को उजागर किया है, लेकिन यह एक मौका भी है कि हम अपनी स्वास्थ्य-प्रणाली को पुनर्निर्मित करें और इसे अधिक सुदृढ़, समावेशी, और टिकाऊ बनाएँ। एक मजबूत सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली ही देश को सभी नागरिकों के लिए गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने में सक्षम बना सकती है, जबकि निजी क्षेत्र को सहायक भूमिका निभानी चाहिए। इस प्रकार, हम एक ऐसी स्वास्थ्य-प्रणाली बना सकते हैं जो सभी लोगों की जरूरतों को पूरा करती है और देश के समग्र कल्याण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य-शिक्षा और जन जागरूकता पर भी ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। लोगों को स्वास्थ्य सेवाओं के अधिकारों और उपलब्ध विकल्पों के बारे में जागरूक किया जाना चाहिए ताकि वे अपनी देखभाल के लिए सूचित निर्णय ले सकें। यह केवल मरीजों के लिए ही नहीं, बल्कि स्वास्थ्य कर्मचारियों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है ताकि वे अपने कार्यक्षेत्र में नैतिक और प्रभावी ढंग से काम कर सकें। स्वास्थ्य-शिक्षा के माध्यम से, लोगों को प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का महत्त्व समझाया जा सकता है और उन्हें स्वस्थ जीवन-शैली अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, जिससे दीर्घकालिक रोगों की रोकथाम में मदद मिलेगी।

इसके अलावा, अनुसन्धान और नवाचार को बढ़ावा देना भी आवश्यक है। भारतीय स्वास्थ्य-प्रणाली में तकनीकी नवाचारों का समावेश इसे अधिक सक्षम और प्रभावी बना सकता है। टेलीमेडिसिन, डिजिटल स्वास्थ्य रिकॉर्ड्स, और आर्टिफिशियल इण्टेलिजेंस जैसे तकनीकी उपकरणों का उपयोग करके स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच और गुणवत्ता को बेहतर किया जा सकता है। ये तकनीकें न केवल चिकित्सकों और मरीजों के बीच संवाद को सुविधाजनक बनाती हैं, बल्कि डेटा विश्लेषण के माध्यम से स्वास्थ्य सेवाओं की योजना और कार्यान्वयन में भी सुधार लाती हैं।

अन्ततः, स्वास्थ्य सेवा-प्रणाली की पुनर्स्थापना केवल सरकार पर ही निर्भर नहीं है। इसमें समाज के सभी वर्गों की सहभागिता महत्त्वपूर्ण है। नागरिकों, स्वास्थ्य कर्मचारियों, सिविल सोसायटी संगठनों, और निजी क्षेत्र के बीच सहयोग से एक समग्र और प्रभावी स्वास्थ्य सेवा-प्रणाली का निर्माण किया जा सकता है। इस सहयोग से, हम एक ऐसी प्रणाली बना सकते हैं जो न केवल वर्तमान चुनौतियों का सामना कर सके, बल्कि भविष्य में आने वाली आपदाओं और स्वास्थ्य सम्बन्धी संकटों से भी निपटने में सक्षम हो। यह सहयोग स्वास्थ्य-प्रणाली की मजबूती के साथ-साथ समाज में स्वास्थ्य-सम्बन्धी जागरूकता और सहानुभूति को भी बढ़ावा देगा, जिससे समग्र कल्याण में सुधार होगा।

इस प्रकार, देखभाल की पुनर्स्थापना एक व्यापक और समग्र दृष्टिकोण की माँग करती है, जिसमें सभी पक्षों की भागीदारी और सहयोग आवश्यक है। यह केवल स्वास्थ्य सेवा-प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए नहीं, बल्कि समाज के समग्र कल्याण और न्याय को सुनिश्चित करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। ■

आवरण कथा

समाज, स्वास्थ्य, बीमारी और हत्या

शिवांगी शंकर

कोविड की महामारी ने हमें साफ दिखाया था कि सरकारी अस्पतालों की क्या अहमियत है। कई निजी अस्पतालों में कोविड के मरीज भर्ती ही नहीं हो रहे थे। निजी अस्पतालों की कुप्रथाओं की कई खबरें आयीं, जिनमें सबसे क्रूर था मृत व्यक्तियों के परिजनों को 'मरीज जिन्दा' बताकर ठगना। ऐसे में निजी व्यवस्था पर निर्भरता बढ़ाना भारत के लिए खतरनाक साबित हो सकता है।

स्वास्थ्य को हम तब तक नजरअन्दाज करते हैं जब तक हम मजबूर नहीं हो जाते हैं। मजबूरी की इस स्थिति में हमें तत्काल किसी डॉक्टर, वैद्य या अस्पताल जाना पड़ता है। इस दौरान, इलाज में होने वाला खर्च हम मुश्किल से ही वहन कर पाते हैं (केवल वे जो खर्च करने की हैसियत रखते हैं)। आये दिन बीमारियाँ भी बढ़ती जा रही हैं, हम रोज इनसे जूझते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह बीमारी हमें अस्पताल न पहुँचाए।

हाल-फिलहाल की घटनाओं से मालूम पड़ता है कि देह की बीमारियों के अलावा विश्व-भर में लोग एक सामाजिक महामारी से भी जूझ रहे हैं।

बीमा की बीमारी

इन दिनों अमेरिका में लुईजी नामक एक व्यक्ति मसीहा बन चुका है क्योंकि उस पर एक बीमा कम्पनी 'यूनाइटेड हेल्थकेयर' के सी.ई.ओ. की हत्या का इल्जाम है। बीमा के चंगुल में फँसी यू.एस. की आम जनता मृत के लिए सहानुभूति नहीं जुटा पा रही। लुईजी इतना लोकप्रिय होने लगा कि उसे एक उदाहरण बनाने की कोशिश की जा रही है। राज्य के नियमों को लाँघकर उसे फेडरल नियमों के तहत चार्ज किया जा रहा है। वह दोषी है या नहीं यह हमारी चर्चा के दायरे से बाहर है पर उसके लिए उमड़ता समर्थन जनता के आक्रोश का संकेत है।

यह उदाहरण यू.एस. का भले हो, भारत के लिए उपयुक्त है–धीरे-धीरे हमारी स्वास्थ्य-व्यवस्था भी एक बीमा मॉडल की ओर बढ़ रही है, या ये कहें कि बढ़ चुकी है। दिखने में बीमा बड़ा ही आकर्षक लगता है। आखिर कौन नहीं चाहेगा कि आवश्यकता होने पर उसे इलाज के पैसे मिल जाएँ? पर यदि आप निजी बीमा खरीदने वालों से पूछें तो आपको यह भी मालूम पड़ेगा कि अक्सर कम्पनियाँ स्वास्थ्य बीमा क्लेम 'रिजेक्ट' ही करती हैं, यानी आवश्यकता होने पर वह इलाज के खर्चे उठाने से बचती हैं। कभी आपकी बीमारी के असम्बन्धित होने का बहाना देकर तो कभी कुछ और।

इंश्योरेंस, चाहे वो निजी हो या सरकारी, एक सूची पर आधारित होता है। उसमें कई बीमारियाँ कई लक्षण हैं, पर हर सूची में कुछ लक्षण नहीं हैं। हर सूची में कई बीमारियों का संग्रह नहीं है और हर सूची के ऊपर 'शर्तें लागू' हैं। इसका परिणाम यह है कि इलाज अब चिकित्साशास्त्र की जगह बीमा सूची पर आधारित होने लगा है। सरकारी बीमा भी इस समस्या से मुक्त नहीं है। पिछले साल एक शोध में पाया गया कि आयुष्मान भारत योजना आने से 'आउट ऑफ पॉकेट एक्सपेंडिचर', यानी, जेब से खर्च में कोई कटौती नहीं हुई है। कुछ सन्दर्भों में यह खर्चा बढ़ा ही है।

बीमा का एक और मसला यह भी है कि

लेखिका चिकित्सक और जन-स्वास्थ्य शोधकर्ता हैं, जो स्वास्थ्य-प्रणालियों, समानता और विभिन्न स्वास्थ्य मुद्दों पर काम करती हैं।
+919968406430
shivishank@gmail.com

वह धीरे-धीरे निजी अस्पतालों पर निर्भरता बढ़ाता जा रहा है। इसका नकारात्मक प्रभाव सरकारी व्यवस्था के उपयोग पर होता है। यह एक चक्र बन चुका है–अनुपयोग का तर्क देकर बजट घटाना और इस कारण व्यवस्था का बदतर होते जाना। निजी व्यवस्था पर निर्भरता बढ़ाना भारत के लिए खतरनाक साबित हो सकता है।

एम्बुलेंस की कहानी

2020 में छपी नीति आयोग के रिपोर्ट के अनुसार केवल 34% अस्पतालों में एम्बुलेंस के लिए पराचिकित्सक थे। शोध में यह भी देखा गया कि कई अस्पतालों के पास ड्राइवर तक नहीं थे, बाकी स्वास्थ्यकर्मी तो दूर की बात है।

आज के समय में अधिकतर एम्बुलेंस निजी संस्थाओं द्वारा चलाये जाते हैं। एक तरह से यह एक ठेकेदारी है। दिक्कत यह है कि एक के बाद जब दूसरी संस्था को ठेका मिलता है तो हर संस्था को अलग-अलग एक प्रक्रिया से गुजरना होता है एम्बुलेंस सेवा को अच्छी तरह से चलाने के लिए। सुनने में शायद यह बाल की खाल निकालने जैसा लगे पर यह प्रणाली इन सब कारणों से टुकड़ों में चलती जाती है। एम्बुलेंस सेवा इन कारणों से एक स्तर पर नहीं आ पाती और सशक्त नहीं हो पाती।

हाल में खबर आयी है कि ब्लिंकिट ने गुड़गाँव में एम्बुलेंस चालू किया है। राशन के सामान की तरह यह पूर्ण रूप से सशक्त एम्बुलेंस भी दस मिनट में आपके पास पहुँचाने का दावा कर रहे हैं। ब्लिंकिट की नीयत भले अच्छी हो, पर ऐसी निजी सेवा का उत्पन्न होना और इस तरह से उत्पन्न होना कई सवाल खड़े करता है।

क्या एम्बुलेंस जैसी आपातकालीन सेवा के लिए मुफ्त और सार्वजनिक व्यवस्था अनिवार्य नहीं है? क्या यह फिर देश के अमीर पढ़ी-लिखी जनता को तत्काल शान्त करके एक गहरी समस्या को ढँक नहीं रहा? ब्लिंकिट हो या कोई और ऐसी कम्पनी क्या वह किसी के जीवन की जवाबदेही लेने योग्य है? क्या ऐसी निजी डिजिटल सेवाओं पर निर्भरता सार्वजनिक सेवाओं को अप्रचलित कर देगी? इसका प्रभाव क्या होगा देश के श्रमिक-वर्ग पर? क्या हर राज्य और केन्द्र सरकार का दायित्व खत्म हो जाता है ऐसे जुगाड़ों से?

कल्याण (की अनुपस्थिति)

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार– ''स्वास्थ्य पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण की स्थिति है, न कि केवल बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति''। वास्तव में शारीरिक और मानसिक कल्याण को बनाये रखना ही आर्थिक और सामाजिक कल्याण पर बोझ बनता जा रहा है।

बेरोजगारी देश में बढ़ती जा रही है। राशन को मुफ्त देने का दावा तो किया जाता है पर हमारे महान देश में जनगणना न होने के कारण लाखों-करोड़ों की संख्या मुफ्त/ सस्ते राशन से वंचित है। उत्तर भारत में एयर क्वालिटी इण्डेक्स यानी वायु गुणवत्ता सूचकांक 500 पार करता है। तापमान हर वर्ष बढ़ता जा रहा है (40 डिग्री तो आम बात हो गयी है)। पूँजीवादी सप्ताह में 70-90 घण्टे काम करने की बात करते हैं भले ही उनके संस्था में काम के तनाव के कारण हाल ही में आत्महत्या हुई हो।

कितने घण्टे सोती है आज की जनता? क्या खाती है? कितने वक्त परेशान रहती? कैसी साँसें लेती है?

स्वास्थ्य को यदि कल्याण के दृष्टिकोण से देखें तो वह लगभग असम्भव है। ऐसे में घूम-फिरकर बीमारियाँ दस्तक दे ही देती हैं। स्वास्थ्य एक विशेषाधिकार बन गया है और इस नवउदारवाद के दौर में सही और सामर्थ्य के हिसाब से इलाज काल्पनिक मालूम पड़ता है।

सामाजिक हत्या

ये परेशानियाँ बहुत नयी नहीं हैं, यह इतनी पुरानी हैं कि इसके लिए एक नाम है, 'सामाजिक हत्या', जो कि फ्रेडरिक एंगेल्स ने उन्नीसवीं सदी में दिया था। उन्होंने फैक्ट्री मजदूरों के हालात दर्शाते हुए लिखा था कि ये हालात उन्हें बीमारी, नशे और मौत की ओर ढकेलते हैं, इसलिए ये हालात हत्या की श्रेणी में आते हैं। अगर मानवता की, देश की इतनी प्रगति के बाद भी हम इस सामाजिक हत्या को रोक नहीं पा रहे तो हमारे लिए शर्म की बात है।

स्वास्थ्य केवल अस्पताल और डॉक्टर से नहीं है। शायद हम डॉक्टर से उम्मीद लगा के बैठे हैं कि वह हमें इस हत्या से बचा ले। तभी उसे भगवान भी मान लेते हैं। कितनी निराशा होती है जब वह इनसान निकलता है, इसी समाज, समुदाय, अर्थव्यवस्था का एक और प्यादा-उतना ही कपटी, उतना ही भला।

वह एक प्रभावशाली पद पर तो है पर वह खुद को 'शहीद' मानता है। एक तरह से वह है भी, सामाजिक हत्या के प्रमाण उसके पास आते हैं और चिकित्सा से उम्मीद करते हैं उद्धार की। समाज के सन्दर्भ से विच्छेदित प्रणाली में शिक्षित वह चिकित्सक मरीज के देह के अलग-अलग हिस्सों को ठीक करने का प्रयास करता है। वह उस व्यक्ति की पीड़ा दूर करने को कई बार एक 'उपकार' समझता है। मरीज के साथ सहानुभूति को अव्यावसायिक माना जाता है। शायद यह हालातों से जूझने का तरीका है। यदि वो खुद को शहीद और महान न समझे तो उसे शायद इस सच्चाई का सामना करना पड़ेगा कि वह भी शोषित है। वह भी उसी सड़ती स्वास्थ्य व्यवस्था का हिस्सा है। उसके पास भी खाने, पीने, सोने के लिए समय नहीं है। ये महानता का नहीं शोषण का प्रतीक है। डॉक्टर की कमी, मशीनों की कमी, एम्बुलेंस की कमी, पोषण का अभाव, स्वच्छ वायु की कमी, ये सब एक डॉक्टर ठीक नहीं कर सकता है। पर भगवान बनने के चक्कर में चिकित्सक मायूस है। इस निराशा से जूझने के लिए किसी भी मामूली इनसान की तरह वह अपनी मेहनत, खर्च और सदमे के बदले अपने मरीज को ग्राहक मानकर उससे वसूलने की सोचता है। वह चाहकर भी पूरे समाज से उत्पन्न हुई बीमारी को एक दवा या सर्जरी से हमेशा ठीक नहीं कर सकता। ऐसे में वह स्वयं उस सामाजिक बीमारी का एक लक्षण बन जाता है।

अतः स्वास्थ्य की जिम्मेदारी केवल चिकित्सक की नहीं हो सकती। नेता, प्रशासन, पत्रकार, शोधकर्ता, अर्थशास्त्री, सफाईकर्मी, मानसिक विशेषज्ञ, कलाकार, कार्यकर्ता और पूरी जनता, सभी स्वास्थ्य को बनाये रखने में अहम् भूमिका निभाते हैं। रूडोल्फ वर्चो ने इस पर सटीक कहा था, ''चिकित्सा एक सामाजिक विज्ञान है और राजनीति और कुछ नहीं बल्कि बड़े स्तर पर चिकित्सा है।''

■

गाँधी का अस्पताल

नारायण भाई भट्टाचार्य

महात्मा गाँधी उन महत्त्वपूर्ण हस्तियों में से एक थे, जिन्हें प्राकृतिक चिकित्सा का भी बहुत गहरा ज्ञान था। उन्होंने बड़े पैमाने पर मानव स्वास्थ्य, रोगों और उनके इलाज पर लिखा है और अपने प्राकृतिक चिकित्सा के ज्ञान का प्रयोग भी किया है। गाँधी जी का विचार था कि जिसके पास स्वस्थ्य शरीर, स्वस्थ्य दिमाग और स्वस्थ्य भावनाएँ होती हैं, वही व्यक्ति स्वस्थ्य होता है। वे मानते थे कि स्वस्थ्य रहने के लिए केवल शारीरिक शक्ति आवश्यक नहीं है, एक स्वस्थ्य व्यक्ति को अपने शरीर के बारे में पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए।

गाँधी जी ने मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच के सम्बन्धों को समझाया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जब से डॉक्टर लुई कुनै की पुस्तक 'न्यू साइंस ऑफ हीलिंग' और एडॉल्फ जस्ट की पुस्तक 'रिटर्न टू नेचर' का अध्ययन किया, वे प्राकृतिक चिकित्सा के समर्पित हिमायती बन गये। डॉक्टर लुई कुनै ने प्राकृतिक उपचार पर जो कुछ लिखा है, उससे महात्मा गाँधी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे।

अगर हम अपनी खाने-पीने की आदतों में संयम का पालन नहीं करते या हमारा मन आवेश या चिन्ता से क्षुब्ध हो जाता है तो हमारा शरीर अन्दर की सारी गन्दगी को बाहर नहीं निकाल पाता और शरीर के जिस भाग में गन्दगी बनी रहती है, उसमें अनेक प्रकार के जहर पैदा होते हैं। यह जहर ही उन लक्षणों को जन्म देते हैं जिन्हें हम रोग कहते हैं। वास्तव में रोग शरीर का अपने भीतर के जहर से मुक्त होने का प्रयत्न ही है। अगर उपवास करके एनिमिया द्वारा आँतें साफ करके कटि स्नान, घर्षण स्नान आदि विविध स्नान करके और शरीर के विभिन्न अंगों की मालिश करके भीतर के जहर से मुक्त होने की इस प्रक्रिया में हम अपने शरीर की सहायता करें तो वह फिर से पूर्ण स्वस्थ हो सकता है।

'कुदरती उपचार' पुस्तक के सम्पादक भारतन कुमारप्पा के मुताबिक गाँधी जी चाहते थे कि आहार के सम्बन्ध में मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन करे, शुद्ध और ताजी हवा का सेवन करे, नियमित कसरत करे, स्वच्छ वातावरण में रहे और अपना हृदय शुद्ध रखे। लेकिन आज ऐसा करने की बजाय मनुष्य को आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के कारण जी भरकर विषय-भोग में लीन रहने का, स्वास्थ्य और सदाचार का हर नियम तोड़ने का और उसके बाद केवल व्यापार के लिए तैयार की जाने वाली दवाइयों के जरिये शरीर का इलाज करने का प्रलोभन मिलता है।

प्राकृतिक चिकित्सा बेहतर जीवन जीने की एक पद्धति है, रोग मिटाने की पद्धति नहीं।

'गाँधी स्मारक प्राकृतिक चिकित्सा समिति' के राष्ट्रीय अध्यक्ष और वर्षों से प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र को राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक बनाने में निरन्तर सक्रिय लक्ष्मी दास जी कहते हैं कि महात्मा गाँधी के पहले भी प्राकृतिक चिकित्सा का कार्य होता था। इस पद्धति के उपयोग का इतिहास बहुत पुराना है, लेकिन यह हकीकत है कि गाँधी जी ने इस पद्धति को सरल और सर्वग्राही बनाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। प्राकृतिक चिकित्सा की इसी खासियत को देखते हुए गाँधी जी को लगा कि प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति का हर एक व्यक्ति सहज इस्तेमाल कर सकता है इसलिए उन्होंने माना कि 'अपने डॉक्टर आप बनो।' प्राकृतिक चिकित्सा की गाँधी जी की कल्पना उस अर्थ से कहीं अधिक व्यापक है, जो आज उस शब्द से आमतौर पर समझा जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा रोग के हो जाने के बाद केवल उसे मिटाने की पद्धति नहीं है, बल्कि प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन बिताकर रोग को पूरी तरह रोकने की कोशिश है।

महात्मा गाँधी ने महारोग से पीड़ित परचुरे शास्त्री की सेवा-सुश्रुषा स्वयं अपने हाथों से की। सरहदी गाँधी अब्दुल गफ्फार खान के मलेरिया रोग का इलाज किया। विनोबा भावे के छोटे भाई बालकोवा भावे के पुराने क्षय रोग को भी ठीक किया। बौद्ध धर्म के पण्डित धर्मचन्द कौशाम्बी जब अपने जीर्ण और जर्जर शरीर को उपवासों द्वारा छोड़ने पर उतारू हो गये तब गाँधी जी ने उनको रोका और उनकी सेवा-सुश्रुषा की। इसी तरह उन्होंने घनश्याम दास बिरला, जमनालाल बजाज, कमलनयन बजाज, दमा के रोगी आचार्य नरेन्द्र देव और सरदार पटेल आदि के बीमार पड़ने पर प्राकृतिक चिकित्सा की।

गाँधी जी ने महाराष्ट्र में पुणे के पास उरली काँचन में यह सोचकर प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र खोला कि गरीब लोग महँगी दवाई नहीं ले सकते और महँगे इलाज नहीं करवा सकते। इस केन्द्र की स्थापना के पीछे एक कारण यह भी था कि गाँधी जी ऐसा मानते थे कि स्वास्थ्य और आरोग्य विज्ञान के बारे में उन्होंने जीवन-भर जो प्रयोग किये हैं, उनका लाभ देश के गरीब लोगों को मिले। इसके लिए उन्होंने 23 मार्च, 1946 में उरली काँचन में प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र की शुरुआत की। उन्होंने डॉक्टर मेहता, बालकोवा भावे, मणि भाई देसाई, डॉक्टर सुशीला नायर और अन्य शिष्यों की मदद से सैकड़ों रोगियों का उपचार किया।

महात्मा गाँधी ने 1 अप्रैल, 1940 को महादेव तात्याबा कांचन जैसे स्थानीय लोगों द्वारा दी गयी भूमि की मदद से 'निसर्ग उपचार ग्राम सुधार ट्रस्ट' की स्थापना की। मणि भाई के प्रबन्धन के तहत टीम ने अच्छे स्वास्थ्य और स्वच्छ तरीकों का प्रचार किया और ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया। आश्रम में प्राकृतिक उपचार के गाँधी जी द्वारा जारी दिशा-निर्देशों का पालन किया गया। पिछले 75 सालों में इस आश्रम ने उल्लेखनीय प्रगति की है, जीवन जीने के तरीके के क्षेत्र में अनूठा उदाहरण स्थापित किया है। देश-विदेश के लोग यहाँ आते हैं और पुरानी बीमारियों के प्रबन्धन के लिए बगैर दवा, समग्र दृष्टिकोण से अवगत होते हैं। (सप्रेस)

लेखक 'गाँधी स्मारक प्राकृतिक चिकित्सा समिति' के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष और 'महात्मा गाँधी प्राकृतिक जीवन विद्यापीठ, सेवाग्राम' के अध्यक्ष हैं।

■

चार कविताएँ

अरुणाभ सौरभ

जन्म : 9 फरवरी, 1985, चैनपुर, सहरसा (बिहार)
शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी), एम.ए. (अँग्रेजी), पी-एच.डी.; बी.एड.
प्रकाशित कृतियाँ : इतना ही नहीं, दिन बनने के क्रम में, किसी और बहाने से, मेरी दुनिया के ईश्वर (कविता-संग्रह), आद्य नायिका (लम्बी कविता); लम्बी कविता का वितान (आलोचना पुस्तक)। हिन्दी की सभी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता से कविताएँ, समीक्षाएँ और आलेख प्रकाशित। मातृभाषा मैथिली में–एतबे टा नहि, तैं किछु आर (कविता-संग्रह)। कन्नड़, असमिया, मैथिली के कहानी तथा कविता संकलनों का हिन्दी में अनुवाद। मैथिली एवं हिन्दी की पत्रिकाओं एवं शिक्षण सामग्रियों का सम्पादन।
पुरस्कार एवं सम्मान : भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली का नवलेखन पुरस्कार, साहित्य अकादेमी नयी दिल्ली का युवा पुरस्कार, चेतना समिति पटना द्वारा माहेश्वरी सिंह महेश स्मृति ग्रन्थ पुरस्कार, देसिल बयना सम्मान (हैदराबाद), महेश अंजुम स्मृति युवा कविता सम्मान, साहित्य श्री अलंकरण।
सम्प्रति : एन.सी.ई.आर.टी. के क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भोपाल में असिस्टेण्ट प्रोफेसर एवं स्वतन्त्र लेखन।
सम्पर्क : arunabhsaurabh@gmail.com /9871969360

रेखांकन : **शेखर**

अरुणाभ सौरभ की इन कविताओं में कवि की अपने समय में होने की टीस उभरती है। तात्कालिकता से बँधी हुई ये कविताएँ इन अर्थों में महत्त्वपूर्ण हैं कि ये उन परिदृश्यों पर नजर डालती हैं जो इतिहास में बार-बार उपस्थित होते हैं और हर काल में एक कवि, एक आम नागरिक को बेचैन कर देते हैं।

एक आम आदमी की विवशताएँ उसे एक मूक दर्शक बना देती हैं। आदमी जीता तो है लेकिन सारी जीवन्तता से दूर एक शुष्क निष्क्रिय जीवन–महज इत्तफाक नहीं है कि/ मेरे होने को/ गपोड़ियों का गप्प/ मूर्खों की मूर्खता... लालची-चीलड़/ और चीकट पापियों का/ पाप मात्र समझा जाये।

कवि की नजर अपने देश ही नहीं पूरी दुनिया पर भी है। वहाँ भी उसे एक जैसे ही हालात दिखते हैं। उसका दिल थोड़ा और बैठ जाता है–उनको इतनी हुनर कि/ कुछ भी करें तो वह/ चमत्कार में बदल जाएगा/... और यह भी कि/असम्भव है उनके बगैर/ हवा का चलना। कवि की संवेदना उसे बेचैन करती है। यही बेचैनी इन कविताओं केन्द्र में है। बेचैनी ही नये रास्तों का पता दे सकती है, जिसकी तलाश में अरुणाभ सौरभ की ये कविताएँ हैं।

—विनय सौरभ

थर्माकोल का पुल

सातवीं क्लास का एक बच्चा
प्रोजेक्ट में बनाकर ले जा रहा
थर्माकोल का पुल
उस पुल की खासियतें सभी
लिखकर
एक अलग शीट पर

इन दिनों स्कूल में
थर्माकोल पर
बहुत सारी बन्दिशों के बावजूद
प्रोजेक्ट बनाने में थोड़ा-बहुत
काम में आ जाता है
थर्माकोल

इतने खूबसूरत पुल को देखकर
उसकी डिजाइनिंग और
उसमें भरे रंगों को देखकर
हर कोई आकर्षित हो सकता है
विश्वास भले ना करे
कुछ बच्चे उस पुल के बारे में
चर्चा कर रहे हैं
आपस में कि
अब समय के हिसाब से
थर्माकोल के पुल बनाये जाने की
जरूरत है
यह पुल ना डूबेगा
और
ना इसके गिरने का खतरा है
क्योंकि पॉलीस्टाइरीन माने थर्माकोल
गजब की चीज है

अब देश में पुल ना गिरे
इसलिए बनेगा विकल्प
पुल की वजह से कोई हताहत ना हो
और तबाह ना हो जिन्दगियाँ
बच्चे को इस देश की चिन्ता
बड़ों से ज्यादा रहती है

बच्चे इसी तरह की
हर बात की गवाही दे रहे हैं...

हुआ वही जो होना ही था

चन्द भले लोग भाँप लेते हैं–
बीते हुए कल और
आने वाले दिनों के
हर खतरे-हादसे और
पकड़कर समय की नब्ज
निकल पड़ते हैं
समाधान के लिए
चन्द भले लोग

अनजान जगह पर
रास्ता ढूँढ़ने
अचानक चल पड़ते हैं भले लोग
वे करते हैं दावे कि
अँधेरे से लड़ाई और
रोशनी की गहन पड़ताल
दोनों उन्हीं के पास है

बड़बड़ाते रहते हैं
पागलों की तरह
देश-विदेश के उद्धरणों को 'कोट' कर
ज्ञान सिद्ध करते-करते
किताबें बाँचते
किताब में दर्ज हो जाते हैं
चन्द भले लोग

खुशफहमी में हैं वे कि
उनके बताये रास्ते चलेगी दुनिया
खूबसूरत वहम में जीते हैं
चन्द भले लोग

अफसोस!
जैसा वे चाहते हैं
कुछ भी वैसा नहीं होता
होता वही
जो वे नहीं चाहते कभी

फिर भी
चन्द भले लोगों की बात से
सहमत नहीं हैं आम लोग।

वेगवती

लहरों की तरह आई
धूम मचाती
और समा गयी
मेरे भीतर
मेरे मन के तार से
सितार की तान छेड़ गयी
मेरी आँखों के नीचे
बहती रही नदी वेगवती
जिस नदी को देखकर
जवान होता रहा मैं

नाव हो जाना था हमें
लहरों के सहारे
जीते रहने की हद तक
जिसका नाम जीवन
और बहना नदी की फितरत
जैसे कि प्यार

जैसे
देखते रहना
राजनीति-क्रिकेट, नीति-रीति, धरम-करम
की खबरें
आम लोगों की फितरत

मैं देखता रह जाता हूँ
अपनी नग्न आँखों से
वेगवती नदी की
उस धार को
टकटकी लगाकर
जिसके किनारे की हवा
मेरे जिस्म में गुदगुदी लगा रही
जैसे कि
उसकी अँगुलियों का स्पर्श
देह के हर कोने में
आत्मा के कोर से

उसमें आती है बाढ़
जिसमें डूब जाता है
मेरे अन्तस में उपजा
उसका अनाम प्यार।

हुनर उनकी–जीना हमारा

उनको इतनी हुनर कि
कुछ भी करें तो वह
चमत्कार में बदल जाएगा

कुछ लोग अनुयायी बनकर
चमत्कार को असली ताकत मान लेंगे
और यह भी कि
असम्भव है उनके बगैर
हवा का चलना
धरती पर रहना
मौसम-जलवायु-ऋतुएँ और नक्षत्र
सब कुछ उसी एक के अधीन

एक शक्तिशाली आदमी
जिसकी ताकत से काँप जाएगा
त्रिभुवन
वह किसी
चरम शिखर पर पहुँचकर
कमाल का चमत्कार दिखाएगा
और लगातार
हम हारे हुए नागरिक
उनके समर्थक संग
बजाएँगे तालियाँ
और हर नगर में आवारा घूमेंगे

लगातार
दुनिया की हर बनती-बिगड़ती घटनाएँ
बस देखकर
और चुपचाप
कोसते रहेंगे
खुद को
कुछ न कर पाने की हालत में

हमारी रगों में दौड़ता खून
उठती-गिरती साँसें
साक्षी रहेंगी
चुपचाप
हमारे आस-पास
चमकदार रहेगा
सब कुछ
और मन के कोने में
भयानक अन्धकार

हम आदत से मजबूर
देखने-सुनने और
बोलते रहने के बीच
जीते रहेंगे
जिससे
कोई फर्क नहीं पड़ेगा
फिर भी डरते हैं
हमसे
कुछ लोग...

■

जाति, जनगणना और सामाजिक न्याय

बिहार

राहुल यादुका

निकोलस डर्क्स अपनी किताब 'कास्ट्स ऑफ माइण्ड' में बताते हैं कि ब्रिटिश काल में हुए जातीय जनगणना के दौरान लोग आमतौर पर अपनी जाति को श्रेणी में ऊपर रखवाना चाहते थे। लेकिन वर्तमान समय में अनेक जातियाँ खुद को अपेक्षाकृत अधिक पिछड़ा मनवाना चाहती हैं। इससे ये प्रतीत होता है कि जातियों का आत्मबोध भी राज्य के स्वरूप और समाज के साथ उसके सम्बन्ध से भी परिचालित होता है।

ये कहना गलत होगा कि हालिया जाति सर्वेक्षण के कारण बिहार या देश की राजनीति में जाति का सवाल फिर से मुख्यधारा में आ गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि बिहार और उत्तर प्रदेश की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से और अन्य राज्यों में कमोबेश परोक्ष रूप से जाति ही दलीय राजनीति को संचालित करती है। राजनीतिक गोलबन्दी के एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में जाति की महत्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भले ही कोई राजनीतिक दल खुले मंच से जाति के प्रश्नों की बात न करता हो, या इसकी मुखालफत करता प्रतीत होता हो, लेकिन जमीनी स्तर पर उसकी भी गोलबन्दी स्थानीय समाज में जातिगत समीकरणों का सम्मान करती ही है। इसलिए सर्वप्रथम इस बात को स्थापित करना चाहिए कि हम जाति पर विमर्श करते समय जाति को एक नैतिक विषय के रूप में न लेकर एक सामाजिक यथार्थ की तरह लें जैसे वरिष्ठ राजनीतिक वैज्ञानिक रजनी कोठारी ने देखा था। उन्होंने समझाया था कि एक परम्परागत समाज में लोकतन्त्र को जमीन पर उतारने में जाति जैसी सामाजिक संस्थाओं की केन्द्रीय भूमिका है। दूसरे शब्दों में उन्होंने ये कहा कि राजनीति में जाति का समावेश नहीं हुआ है बल्कि जाति के माध्यम से हमारे समाज में लोकतान्त्रिक राजनीति ने जड़ पकड़ा है।

बिहार के पिछले 100-125 साल के राजनीतिक-सामाजिक इतिहास को अगर पढ़ा जाये तो ऐसा लगेगा कि वस्तुतः समाज की विभिन्न जातियों के बीच हो रहे संघर्ष के बारे में पढ़ा जा रहा है। यहाँ एक और बात कह दी जाये कि बिहार में जाति और वर्ग समानार्थी नहीं तो पूरी तरह से अलग भी नहीं। जाति और वर्ग बहुत हद तक एक-दूसरे को आच्छादित करती हैं। इससे ये भी रेखांकित होता है कि जाति के तमाम रूपों में इसका एक आर्थिक आयाम भी है। जाति पेशा और संसाधन को बाँटने का एक उपकरण भी रहा है। ये और बात है कि इस संघर्ष का लक्ष्य अलग-अलग कालखण्ड में अलग रहा है।

अब क्योंकि बात जातियों को गिनने और उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पता लगाने की चल रही है तो ये याद किया जाना चाहिए कि 20वीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में ब्रिटिश साम्राज्य भारतीय समाज को बेहतर समझने (और नियन्त्रित करने) के प्रयास कर रहा था और इस प्रयास में जातियों को सूचीबद्ध करना, उनकी सामाजिक हैसियत दर्ज करना आदि जरूरी समझा गया। इस छोटे से राजकीय हस्तक्षेप के व्यापक सामाजिक और राजनीतिक निहितार्थ कालान्तर में सामने आये। एक बेहद महत्त्वपूर्ण बिन्दु यहाँ रेखांकित करना जरूरी है। निकोलस डर्क्स अपनी किताब 'कास्टस ऑफ माइण्ड' में बताते हैं कि ब्रिटिश काल में हुए जातीय

लेखक अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में शोधार्थी हैं।
+91 88263 24382
rahulyaduka353@gmail.com

जनगणना के दौरान लोग आमतौर पर अपनी जाति को श्रेणी में ऊपर रखवाना चाहते थे। लेकिन वर्तमान समय में अनेक जातियाँ खुद को अपेक्षाकृत अधिक पिछड़ा मनवाना चाहती हैं। इससे ये प्रतीत होता है कि जातियों का आत्मबोध भी राज्य के स्वरूप और समाज के साथ उसके सम्बन्ध से भी परिचालित होता है। ये कहा जा सकता है कि ब्रिटिश राज्य के लिए लोक-कल्याणकारी होना अनिवार्य नहीं था क्योंकि उसकी वैधता का स्रोत लोग नहीं थे। इसलिए लोग भी राज्य से ऐसी उम्मीद नहीं करते थे। यहाँ ये कह देना उचित होगा कि ब्रिटिश राज्य पूरी तरह से बल पर आधारित भी नहीं था। राष्ट्रवादी इतिहासकार बिपिन चन्द्रा ब्रिटिश राज्य को एक 'सेमी-अथॉरिटेरीअन' राज्य की तरह देखते हैं जो राजकीय हिंसा और लोक-कल्याण दोनों से आंशिक वैधता लेता था। आजाद भारत में राज्य निश्चित रूप से कल्याणकारी ही है, भले ही इसके कल्याण करने की क्षमता और तरीके पर बहस हो सकती है। लेकिन ये स्थापित है कि आम लोगों की स्वीकृति [हम भारत के लोग] ही राज्य को वैधता प्रदान करती है। ये रोचक है कि इस स्वीकृति को सम्प्रेषित करने का माध्यम आम चुनाव है जिसको तमाम राजनीतिक दल जमीन पर उतारते हैं।

इस आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राज्य की समाज में केन्द्रीयता बढ़ी है। ब्रिटिश राजनीतिक सिद्धान्तकार हैरोल्ड लासकी के शब्दों में कहें तो राज्य अब अनेक शक्ति के ध्रुवों में महज एक ध्रुव नहीं रहा। आधुनिकता और आधुनिक राज्य ने समानान्तर शक्ति केन्द्रों [मसलन धर्म, परिवार, समुदाय आदि] को अपेक्षाकृत धूमिल कर राज्य को एक ऊँचे पायदान पर अकेले प्रतिस्थापित किया है। नतीजतन, लोगों की दावेदारी भी राज्य के प्रति बढ़ी है। 21वीं शताब्दी में बिहार पर अपनी किताब 'डिमाक्रसी अगेंस्ट डेवलपमेण्ट' में जेफ्री वितसो कहते हैं कि 1990 के बाद हुए राजनीतिक परिवर्तन में राज्य ही पुरस्कार है (द स्टेट इज द प्राइज)। उपर्युक्त चर्चा के आलोक में ये समझना सुगम होना चाहिए कि समाज में व्यापक और आमूल परिवर्तन के लिए राज्य की संरचना को बदलना जरूरी समझा गया। अतीत में सामाजिक और आर्थिक रूप से सम्पन्न जातियों ने राज्य [अथवा सत्ता] को अपने कब्जे में रखा, इसलिए अब सामाजिक और आर्थिक रूप से सबल होने के लिए राज्य पर कब्जा करना अनिवार्य समझा गया। ये ध्यान दिया जाना चाहिए कि यहाँ हम राज्य की मार्क्सवादी व्याख्या के समीप हैं। यहाँ ये मान्यता है कि राज्य उदारवादी राजनीतिक दर्शन की तर्ज पर निरपेक्ष नहीं हैं। लिहाजा ये जानना महत्त्वपूर्ण हो जाता है राज्य में बैठा कौन है, उसकी जाति क्या है, उसका वर्ग क्या है, आदि। यही जानना 'पहचान की राजनीति' का बीज है। इसलिए पहचान की राजनीति के प्रति एक बौद्धिक दुराभाव रखना बिहार जैसे समाज को समझने में बाधक बन जाएगा। लेकिन पहचान की राजनीति को बिना आलोचनात्मक विश्लेषण के सामाजिक न्याय का सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र रास्ता मानना भी एक प्रकार की हठधर्मिता होगी। सबसे अधिक महत्त्व का सवाल यही है कि क्या एक ऐसे बौद्धिक वातावरण में जहाँ न्याय को केवल एक नैतिक अवधारणा के रूप में समझा जाता है, वहाँ इसे एक सतत गतिशील अवधारणा की तरह लिया जाएगा और इस पर होने वाली बहस को खुले मन से स्वीकार किया जाएगा। वर्तमान जाति सर्वेक्षण हमारे सामाजिक विमर्श की गुणवत्ता की परीक्षा की घड़ी भी है।

इस बहस से जुड़ा एक और पहलू विचारणीय है। जाति सर्वेक्षण का तर्क आमतौर पर ऐतिहासिक संरचनात्मक गैर-बराबरी से निकाला जाता है। क्योंकि ऐतिहासिक रूप से समाज जातियों में बाँटा गया है और तदनुरूप सारी व्यवस्था बनी है, इसलिए ये जानना जरूरी है कि आजादी के 75 साल के बाद और मण्डल कमीशन की कुछ एक सिफारिश लागू होने के तीन दशक बाद हमारे समाज में गैर-बराबरी की क्या स्थिति है। तर्क के इस हिस्से में समाजवादी धड़े के पुराने नारे की अनुगूँज भी है–जो 'भागीदारी' और 'हिस्सेदारी' में तारतम्य बनाता है। लेकिन इस बहस को पॉलिसी या नीति-निर्माण की बहस के रूप में भी देखा जाना चाहिए। हम ऐसे समय में जी रहे हैं जहाँ नीति को अधिकाधिक तथ्य पर आधारित (एविडेंस बेस्ड पॉलिसी मेकिंग) करने का आग्रह है। सरकार लगातार लोक-कल्याण की योजनाओं में वित्तीय नियमन की बात करती है जिससे वाजिब लाभुकों तक ही सामाजिक धन पहुँचे। इसके लिए डाटा पर विशेष जोर रहता है। थोड़ा आश्चर्य होता है जब देश का सोशल ऐलीट अन्यथा तो डाटा की पूजा करता है लेकिन सामाजिक न्याय के आलोक में इसकी मुखालफत करता प्रतीत होता है। कोई शक नहीं कि नीतियाँ राजनीतिक हित साधन का एक उपादान हैं। जो तबका जाति जनगणना के विरोध में है, उसका तर्क ये है कि इससे जातिगत राजनीति को बल मिलेगा। उनकी बात एकदम सही है। जाति जनगणना का उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि इससे समाज में एक आन्तरिक हलचल हो जिससे लोगों में राजनीतिक चेतना का विकास हो और वो सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ सकें। इस आँकड़े से ये पता चल जाएगा कि क्या कोई जाति विशेष रूप से संसाधनों के मामले में वंचित है। तदनुरूप योजनाएँ बनायी जा सकेंगी। यहाँ एक बात कही जानी जरूरी है। दरअसल जातिगत राजनीति को लेकर जो आशंका है, वो सम्भवतः चुनावी लोकतन्त्र के एक विकृत रूप को लेकर है जिसका साक्षी हमारा उत्तर-उपनिवेशवादी समाज रहा है। सिर्फ विकृत कहना भी सही नहीं होगा। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के कुछ चिन्तक मानते हैं कि उत्तर उपनिवेशवादी समाज में लोकतन्त्र का अपना 'विशिष्ट' स्वरूप है जिसको 'विकृत' कहना उचित नहीं होगा। फिर भी, कुछ एक चारित्रिक विशेषताओं को विशिष्ट न कहकर विकृति कहना ही उचित होगा– मसलन राजनीति का अपराधिकरण, हिंसा, धन और बाहुबल का प्रयोग आदि। फिर भी यहाँ ये मानकर चला जाये कि लोकतान्त्रिक राजनीति संस्थाओं में समाज के विभिन्न तबकों के समुचित प्रतिनिधित्व का एक अच्छा माध्यम है।

समस्या इससे आगे बढ़ने पर आती है। पहला सवाल ये उठता है कि क्या एक इतिहासोन्मुख तर्क के सहारे भविष्य का सन्धान सम्भव है! आगे बढ़ने से पहले विगत 30-40 सालों के जाति के इर्द-गिर्द

हुई राजनीति और इसके फलाफल पर भी चिन्तन कर लेना श्रेयस्कर होगा। यहाँ एक बात साफ-साफ कहा जाना जरूरी है। आज बहुजन आन्दोलन और समाजवादी धड़े से जुड़े लोग डाटा के आधार पर आर्थिक और सामाजिक स्थिति के पुनर्मूल्यांकन की बात तो करते हैं, पर जब-जब 'आरक्षण के समीक्षा' की बात होती है, समाज और विमर्श में बहुत तेजी से ध्रुवीकरण हो जाता है। ऐसा कहने वाले को सीधे दक्षिणपन्थी मान लिया जाता है। इसमें दो राय नहीं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बीच-बीच में ये सवाल उठाता है और उसके पुराने रिकार्ड से शक होना लाजमी भी है। सामाजिक समरसता की आड़ में उनकी नियत का सबको पता है। मगर, फिर भी, संघ के डर से सामाजिक न्याय पर किसी भी बहस को चुप करा देना देश-समाज के लिए बिल्कुल अच्छा नहीं हो सकता। यहाँ थोड़ा विषयान्तर करते हुए इस पर जिक्र कर लेना चाहिए कि सामाजिक बहस के क्या तकाजे होने चाहिए। यहाँ जिक्र किया जाना चाहिए थॉमस कुन्ह का, जिन्होंने ये प्रतिपादित किया कि जिस सिद्धान्त को तथ्यों के सहारे भी नकारा न जा सके, वो वैज्ञानिक नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में 'फॉल्सीफीकेशन' ही वैज्ञानिकता का तकाजा है। इस दृष्टि से देखें तो हर परिपाटी को आलोचना के लिए खुला होना चाहिए। उसकी ताकत आलोचना का तर्कसंगत जवाब देने में है, तर्क को दबा देने में नहीं। दूसरी बात, मनोविश्लेषणात्मक आलोचना (साइकोएनालीटिकल क्रिटिक) को अवैज्ञानिक माना गया है–क्योंकि इस आलोचना-पद्धति में टेक्स्ट की जगह ऑथर को देखा जाता है। लिहाजा इसको 'फॉल्सीफाइ' करना असम्भव है। उदाहरण के लिए सामाजिक न्याय की आलोचना में तर्क की जगह तर्क देने वाले को देखा जाये तो विमर्श की स्वस्थ परम्परा नहीं बन सकती। सामाजिक स्तर पर ये तरीका जातियों के पड़े एक समुदाय की निर्मिती को भी रोक देता है। ऐसे में एक समतामूलक समाज तो दूर, एक नागरिक समाज का निर्माण भी सम्भव नहीं हो सकता।

जाति के आधार पर गैर-बराबरी को डाटा के माध्यम से स्थापित करने और इसके आधार पर राजनीति अथवा राजनीति में हिस्सेदारी तय करने के अलावा भी सामाजिक न्याय की लड़ाई के कई पहलू हैं जो समय के साथ नेपथ्य में चले गये हैं। इसमें शक नहीं कि भागीदारी और हिस्सेदारी में तारतम्य होनी ही चाहिए लेकिन राजनीतिक आयाम में समानुपातिक प्रतिनिधित्व के अलावा भी समाज में अनेक आयाम हैं जहाँ बहुजन हाशिये पर हैं। संजय बारू अपनी किताब में 'पावर ऐलीट' की चर्चा करते हुए बताते हैं कि समाज के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि ऐलीट होते हैं जो परस्पर एक भी हो सकते हैं और नहीं भी। ये खाई लालू सरकार के कार्यकाल में भी खुलकर परिलक्षित हुई। जहाँ एक तरफ विधायिका में पिछड़ी जाति का प्रतिनिधित्व बढ़ रहा था, वहीं प्रशासन, न्यायपालिका, मीडिया, शिक्षा आदि में ऊँची जातियों का वर्चस्व कायम था। लेकिन कम-से-कम बिहार में जो मण्डलोत्तर राजनीति हुई है, इसमें राजनीतिक शक्ति पर दावेदारी सबसे मुखर रूप से दिखी है। शायद ऐसा इसलिए रहा क्योंकि सत्ता को बाकी सामाजिक आयामों में परिवर्तन का माध्यम माना गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि राज्यसत्ता पर कब्जे को सामाजिक न्याय का अभिप्राय बना दिया गया। 'संसोपा ने बाँधी गाँठ, पिछड़े पावे सौ में साठ' नारे में सिर्फ विधानसभा में साठ हिस्सा तक सीमित था? ये भी देखना होगा कि 27% आरक्षण के अलावा भी मण्डल कमीशन की सिफारिशें थीं। क्या राजनीति के इतर आयामों में बहुजनों की उदासीनता सामाजिक न्याय के सपने को सच कर सकेगी? ये सामाजिक न्याय की यात्रा को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक है।

अगला मुद्दा है विकास और सम्मान के परस्पर सम्बन्ध का। सर्वविदित है कि लालू प्रसाद यादव अक्सर सभाओं में कहा करते थे कि विकास नहीं, सम्मान चाहिए। इस दर्शन को उन्होंने कुछ हद तक फलीभूत भी किया जिसके साक्ष्य हैं। एक शोध-पत्र में राज्य को जान-बूझकर कमजोर किये जाने को 'स्टेट इनकपेसिटी बाई डिजाइन' कहा गया है। उन्होंने ये तक कहा कि लोग बाहर जाकर कमाएँ और बिहार के गाँव में आकर 'जीट' में रहें। ऐतिहासिक-सामाजिक अपमान के बोध के आलोक में विकास के ऊपर सम्मान को रखना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन, सवाल उठता है कि कब तक ये युक्ति काम करेगी कि लोग बाहर जाकर कमाएँ और गाँव में शान से रहें। जिस तरह का पलायन बिहार के गाँव से हो रहा है, ऐसे में सम्मान के साथ जीना नामुमकिन है। इसके भी साक्ष्य हैं। यहाँ भले 'सम्मान' मिला हो, पूरे भारत में लोग बिहार का मजाक बना रहे हैं। ऐसा नहीं कि इसके लिए मण्डलोत्तर राजनीति ही जिम्मेदार है, लेकिन इस राजनीति के केन्द्र में विकास की परम्परागत अवधारणा नहीं रही, इसमें भी शक नहीं। क्या अब समय नहीं आया कि बहुजन राजनीति 'सम्मान' और 'विकास' को एक करने के बारे में सोचे? क्या ये सम्भव ही नहीं? अगर है तो इसका रूप कैसा होगा? नीतीश कुमार की सरकार 'न्याय के साथ विकास' के मामले में कितनी सफल हुई, इस पर अभी गम्भीर शोध नहीं मिलते। यहाँ ये गौर करने लायक बात है कि नीतीश सरकार के कार्यकाल में लिखी गयी तमाम किताबें एक पैटर्न फॉलो करती हैं– 1990 के पहले के समय को नेपथ्य में रखकर 1990-2005 को एक अन्धकार युग की तरह चित्रित किया जाता है और ऐसे भूमिका बनाकर नीतीश कुमार के कार्यकाल को एक पुनर्जागरण का समय बताने की कोशिश की जाती है। तमाम लेखक और पत्रकार अमूमन यही काल-विभाजन इस्तेमाल करते हैं। इस पर भी पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

आज जरूरत इस बात को समझने की है कि हमारे सामने अनेक चुनौतियाँ हैं जो हमें हमारी राजनीति को पुनरपरिभाषित करने को बाध्य करती हैं। मसलन बिहार के 28 जिले बाढ़ प्रभावित हैं और बाकी सूखे की मार झेलते हैं। हमारे राज्य से डिस्ट्रेस माइग्रेशन बहुत अधिक है। बिहार धीरे-धीरे रमिटन्स-बेस्ड ईकानमी बन रहा है। रोजगार का संकट व्यापक है। जलवायु परिवर्तन का भारी असर बिहार पर होगा-ही-होगा। उधर बड़े फलक पर जिस तरह से ए.आई., रोबाटिक्स आदि का विकास हो रहा है, परम्परागत रोजगार सिकुड़ेंगे। ऐसे में हमें सोचना चाहिए कि क्या 'पॉलिटिक्स ऑफ रिडिस्ट्रीब्यूशन' काफी होगा या हमें 'पॉलिटिक्स ऑफ प्रोडक्शन' के बारे में भी सोचना होगा।

■

शम्भु बॉर्डर से सुप्रीम कोर्ट तक

अजय सिंह

लगभग एक महीना बीतने के बाद, सरकारी स्वास्थ्य रिपोर्ट्स ने एक चिन्ताजनक स्थिति को उजागर किया। रिपोर्ट में बताया गया कि सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल का स्वास्थ्य इतनी बुरी तरह गिर चुका है कि उनका शरीर अब खुद को ही खाने लगा है। पानी पीने के बाद हर बार उन्हें उल्टियाँ आने लगीं, उनका शरीर पानी को ठीक से सहन नहीं कर पा रहा है।

किसान आन्दोलन न केवल किसानों की आवाज उठाता है बल्कि देश की कृषि-नीतियों पर भी गम्भीर सवाल उठाता है। किसान, जिसे हम अन्नदाता के रूप में जानते हैं, आज भी अपने अधिकारों के लिए सड़कों पर संघर्ष कर रहा है। समय के साथ देश के अन्य वर्गों की स्थिति बदल गयी है, लेकिन किसान की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। भारत में किसान आन्दोलन पिछले कुछ वर्षों से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक ध्यान आकर्षित कर रहा है।

ये कहानी सिर्फ दिसम्बर 2024 की नहीं है। इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। पहले जब किसान अपनी माँगों को लेकर सड़कों पर उतर रहे थे। तब भी एम.एस.पी., कर्ज माफी, और फसल की सही कीमतों का मुद्दा था। लेकिन हर बार, आश्वासन दिये गये और आन्दोलन दबा दिया गया। धीरे-धीरे किसानों का सब्र टूटने लगा।

यह आन्दोलन 2020 में केन्द्र सरकार द्वारा लाये गये तीन कृषि कानूनों के विरोध में शुरू हुआ था। आशंका थी कि इन कानूनों का किसानों पर सम्भवित नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा, जिसके कारण लाखों किसानों ने दिल्ली को चारों तरफ से घेर लिया। दिल्ली की सीमाओं पर एक साल से भी अधिक समय तक यह आन्दोलन चलता रहा, जिसमें किसानों ने अपनी माँगों के समर्थन में विभिन्न संघर्ष और प्रदर्शन किये। इस आन्दोलन का राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गहरा असर हुआ और आखिरकार सरकार ने किसानों की माँगों को स्वीकार करते हुए तीनों कृषि कानूनों को निरस्त कर दिया।

पर खेती के हालात बद-से-बदतर होते जा रहे थे। लागत बढ़ती जा रही थी उर्वरक और डीजल के दाम बढ़ते जा रहे थे। जो बढ़ नहीं रही थी वो थी फसलों की कीमत। नतीजा करीब दो साल के भीतर ही किसान फिर से सड़कों पर उतर आये और किसान आन्दोलन 2.0 शुरू हो गया। वजह? वही पुरानी, लेकिन सुलगती हुई–न्यूनतम समर्थन मूल्य की गारण्टी और कर्ज माफी। बहुत हुई बातें, बहुत हुए वादे। पर हल नहीं। पंजाब और हरियाणा के गाँवों में हलचल मच चुकी थी। किसान एक बार फिर अपना काफिला लेकर चल दिये थे आन्दोलन में सिर्फ ट्रैक्टर-ट्राली या गाड़ियाँ नहीं चल रही थीं। चल रही थी किसानों की उम्मीद, उनके सपने।

इस आन्दोलन का नेतृत्व दृढ़ निश्चयी और निडर किसान नेता जगजीत सिंह डल्लेवाल ने किया। पंजाब के फरीदकोट जिले के डल्लेवाल गाँव के निवासी जगजीत सिंह लम्बे समय से किसानों के मुद्दों पर सक्रिय हैं। उन्होंने फरवरी 2024 में किसानों की सबसे अहम् माँगों को लेकर इस आन्दोलन की शुरुआत की थी।

लेखक हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में पी-एच.डी. कर रहे हैं और साहित्य में गहरी रुचि रखते हैं।
+91 6280385104
ajeymalik01@gmail.com

उनकी माँगों में न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की कानूनी गारण्टी, स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों के अनुसार फसलों का मूल्य तय करना और लखीमपुर खीरी की दुःखद घटना के दोषियों को कड़ी सजा देना शामिल है। आन्दोलन की शुरुआत खनौरी बॉर्डर और शम्भू बॉर्डर से हुई, जहाँ हजारों किसान अपने हक की आवाज उठाने के लिए जुटे। लेकिन जब उन्होंने दिल्ली की ओर कूच करने की कोशिश की तो हरियाणा पुलिस ने भारी सुरक्षा-व्यवस्था के बीच उन्हें रोक दिया। इसके बावजूद किसानों का मनोबल कम नहीं हुआ और वे बॉर्डर पर डटे रहकर अपनी माँगों को लेकर संघर्ष करते रहे। इस दौरान कई बार बॉर्डर पर पुलिस और किसानों के बीच झड़प भी हुई, जिससे स्थिति काफी तनावपूर्ण हो गयी। स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए प्रशासन ने बॉर्डर से सटे गाँवों और शहरों में इण्टरनेट सेवाएँ बन्द कर दीं। प्रदर्शनकारियों को रोकने के लिए पुलिस ने आँसू गैस के गोले दागे, हवा में फायरिंग की और वाटर कैनन का इस्तेमाल किया। सड़कों पर कँटीले तार बिछा दिये गये और कंक्रीट के बैरिकेड लगाकर रास्ते बन्द कर दिये गये। दूसरी ओर किसानों ने भी डटे रहने की तैयारी शुरू कर दी। उन्होंने सड़कों पर कंक्रीट के टेंट लगा दिये और शौचालय जैसी बुनियादी सुविधाओं का इन्तजाम कर दिया, जिससे साफ हो गया कि वे अपने हक की लम्बी लड़ाई लड़ने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। करीब 10 महीने बॉर्डर पर डटे रहने के बाद किसान नेता सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल ने नवम्बर के आखिर में भूख हड़ताल का ऐलान किया। इस फैसले ने आन्दोलन को नयी दिशा और गम्भीरता दी।

शुरुआत में तो केन्द्र सरकार ने इस भूख हड़ताल को हल्के में लिया, लेकिन जब भूख हड़ताल को एक महीना पूरा होने वाला था, तो सुप्रीम कोर्ट ने भी मामले का संज्ञान लिया और सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल के स्वास्थ्य पर गहरी चिन्ता व्यक्त की और पंजाब सरकार को आड़े हाथों लिया। सुप्रीम कोर्ट ने सख्त टिप्पणी करते हुए कहा कि अगर सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल के स्वास्थ्य को कोई नुकसान पहुँचता है, तो इसे गम्भीर लापरवाही माना जाएगा। कोर्ट ने साफ कहा कि डल्लेवाल सिर्फ एक व्यक्ति नहीं, बल्कि लाखों किसानों की आवाज हैं और उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखना सरकार का नैतिक और संवैधानिक कर्तव्य है। पंजाब सरकार को निर्देश दिया गया कि उन्हें तुरन्त अस्पताल में भर्ती कराया जाये और उनके स्वास्थ्य की नियमित जाँच सुनिश्चित की जाये। लेकिन सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल ने अस्पताल में भर्ती होने से साफ इनकार कर दिया, क्योंकि उनका मानना है कि यह आन्दोलन को कमजोर करने की कोशिश है। इसलिए उन्होंने साफ कर दिया कि जब तक केन्द्र सरकार किसानों से बातचीत करके उनकी माँगें नहीं मान लेती, तब तक उनकी भूख हड़ताल जारी रहेगी। सुप्रीम कोर्ट द्वारा मामले पर संज्ञान लेने के बाद, डॉक्टरों की एक विशेषज्ञ टीम ने सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल के स्वास्थ्य की नियमित जाँच शुरू की। जाँच रिपोर्टों से यह सामने आया कि उनकी सेहत लगातार बिगड़ रही थी। सरदार डल्लेवाल की बिगड़ती हालत को देखते हुए देश-भर में किसानों और उनके संगठनों में गहरी चिन्ता फैल गयी। इस गम्भीर स्थिति को देखते हुए, विभिन्न किसान संगठनों ने तत्परता दिखाते हुए एक महापंचायत का आयोजन किया।

महापंचायत में कई प्रमुख किसान नेताओं ने एकजुटता का सन्देश दिया और सरदार डल्लेवाल के आन्दोलन और उनके संकल्प को पूरी तरह समर्थन देने का निर्णय लिया। इस दौरान, सरदार डल्लेवाल को स्ट्रेचर पर लाया गया, और उन्होंने कहा, ''यदि मेरा बलिदान किसान कौम के काम आता है, तो मैं हमेशा इसके लिए तैयार हूँ।''

अनशन के दिनों का सिलसिला धीरे-धीरे लम्बा खिंचता गया, और इस दौरान किसानों का संघर्ष और भी अधिक गम्भीर हो गया। किसानों ने अपने अधिकारों की आवाज बुलन्द करने के लिए हर सम्भव प्रयास किया। इस दौरान 101 किसानों का एक जत्था दिल्ली की ओर पैदल मार्च करने के लिए निकला, लेकिन हरियाणा पुलिस ने इस प्रयास को भारी सुरक्षा प्रबन्धों के बीच नाकाम कर दिया।

इसी बीच, केन्द्र सरकार द्वारा उनकी माँगों और उनके संघर्ष की अनदेखी के कारण शम्भु बॉर्डर से कुछ किसानों की आत्महत्या की दर्दनाक खबरें भी सामने आयीं जिसने आन्दोलन के माहौल को और भी अधिक तनावपूर्ण और दुःखद बना दिया।

लगभग एक महीना बीतने के बाद, सरकारी स्वास्थ्य रिपोर्ट्स ने एक चिन्ताजनक स्थिति को उजागर किया। रिपोर्ट में बताया गया कि सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल का स्वास्थ्य इतनी बुरी तरह गिर चुका है कि उनका शरीर अब खुद को ही खाने लगा है। पानी पीने के बाद हर बार उन्हें उल्टियाँ आने लगीं, उनका शरीर पानी को ठीक से सहन नहीं कर पा रहा है।

शुरुआत में कुछ नेताओं और स्थानीय लोगों द्वारा सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल और उनके आन्दोलन पर खालिस्तानी होने जैसे गम्भीर आरोप लगाये गये। इन आरोपों के जरिये आन्दोलन को बदनाम करने और किसानों की आवाज को दबाने की कोशिश की गयी। लेकिन जब आज वही किसान अपने हक के लिए भूख हड़ताल पर बैठकर अपने प्राणों का बलिदान देने को तैयार हैं, तो इन आरोप लगाने वालों की जुबान बन्द हो गयी है। जिन पर देश-विरोधी गतिविधियों में शामिल होने का आरोप लगाया गया था, उनका साहस और त्याग हर झूठे आरोप को नकारते हुए सच्चाई की गवाही दे रहा है।

कई मीडिया संस्थान किसानों के पक्ष में नहीं थे। कुछ का कहना था कि यह आन्दोलन राजनीति से प्रेरित है। कुछ ने किसानों को बदनाम करने की कोशिश की। इन सब आरोपों का सामना करते हुए किसानों ने अपना संघर्ष जारी रखा है।

सरकार की ओर से अनशन को खत्म कराने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। आन्दोलन के 52वें दिन, सरदार जगजीत सिंह डल्लेवाल की नाजुक हालत और सरकार के उदासीन रवैये को देखते हुए, 111 किसानों ने आमरण अनशन की शुरुआत की। इस साहसिक कदम ने आन्दोलन को और भी गहराई और गम्भीरता प्रदान कर दी।

भले ही सरकार इस मुद्दे पर चिन्ता व्यक्त करके कमजोर होना पसन्द नहीं कर रही है, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह मुद्दा धीरे-धीरे केन्द्र सरकार के लिए एक बड़ी चुनौती और गले की फाँस बनता जा रहा है।

■

अवैध अफीम की खेती

मणिपुर

जमुना सुखाम

अपने पहाड़ी इलाकों, दूर-दराज के स्थानों और कठिन पहुँच के कारण ऐतिहासिक रूप से अफीम की खेती के लिए यह क्षेत्र सुरक्षित रहा है। राज्य के कुछ जिले जैसे—उखरुल, चान्देल, सेनापति और तामेंगलोंग (पहाड़ी क्षेत्र), अफीम की खेती के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करते हैं। बुनियादी ढाँचे की कमी और ऊबड़-खाबड़ इलाके के कारण अधिकारियों के लिए इन इलाकों में अवैध खेती को नियन्त्रित करना मुश्किल हो जाता है।

लेखिका उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, नीलपद्मा, इम्फाल में शिक्षिका हैं।

+919774675045

jsukham@gmail.com

'ड्रग्स के खिलाफ युद्ध' (वार ऑन ड्रग्स) एक नीतिगत अभियान है, जिसे सबसे पहले 1980 में अमेरिका में शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य मादक पदार्थों के उत्पादन, वितरण और उपयोग को रोकना था। यह अभियान मुख्य रूप से कड़े दण्डात्मक उपायों, ड्रग तस्करी पर नियन्त्रण और ड्रग्स के खिलाफ प्रचार पर केन्द्रित था। इसके तहत मादक पदार्थों पर कानूनों को सख्त किया गया और मादक पदार्थों के सेवन के खिलाफ जगरूकता अभियानों की शुरुआत की गयी। हालाँकि, इस नीति की आलोचना भी हुई है, क्योंकि उसके परिणास्वरूप नशीली दवाओं के सेवन में कमी के बजाय जेलों में भरमार हो गयी और समस्या यही होने लगी कि एक स्वास्थ्य मुद्दे के रूप में देखने की जरूरत होने लगी।

पूर्वोत्तर भारत देश का सबसे पूर्वी भाग है जिसमें 8 राज्य शामिल हैं। मणिपुर, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'रत्नों की भूमि'। यह राज्य पूर्वोत्तर क्षेत्र के दक्षिण-पूर्वी कोने में 2823.80 डिग्री से 25.68 डिग्री के बीच फैला हुआ है। 22, 327 वर्ग कि.मी. के क्षेत्र में फैला, मणिपुर पूर्वोत्तर के कुल क्षेत्रफल का 8.52 प्रतिशत और भारतीय भूमि का 0.67 प्रतिशत हिस्सा है। यह उत्तर में नागालैण्ड, पूर्व में म्यांमार, दक्षिण में म्यांमार की चीन पहाड़ियों और पश्चिम में मिजोरम की लूशाई पहाड़ियों और असम की कछार पहाड़ियों से घिरा है। यह म्यांमार के साथ 352 कि.मी. लम्बी अन्तरराष्ट्रीय सीमा साझा करता है। 1947 में भारत की आजादी के बाद मणिपुर रियासत का 15 अक्टूबर, 1949 को भारतीय संघ में विलय हो गया था।

मणिपुर में चल रहे संकट के बीच अफीम की खेती लगातार और 'व्यापक' रूप से फैले ड्रग खतरे को स्पष्ट रूप से उजागर करती है जो इस क्षेत्र को तबाह कर रही है। मणिपुर में अफीम की खेती में खतरनाक वृद्धि के साथ हेरोइन और अफीम उत्पादन के केन्द्र के रूप में इसकी भूमिका, स्थिति की गम्भीरता को रेखांकित करती है, जहाँ ड्रग्स मूक हत्यारा बन गया है जिसने जीवन परिवारों और पूरे समुदायों को तबाह कर दिया है। स्थानीय रूप से कानी के नाम से जानी जाने वाली अफीम की खेती ने राज्य के पहाड़ी इलाकों पर कब्जा कर लिया है जहाँ ज्यादातर अनुसूचित जनजातियाँ रहती हैं।

मणिपुर पुलिस के अधीन एक इकाई—नारकोटिक एण्ड अफेयर्स बोर्डर (एन.ए.बी.) की रिपोर्ट के अनुसार, अवैध अफीम की खेती के क्षेत्र मुख्य रूप से उखरुल, सेनापति, कांगपोकपी, कामजोंग, चूड़ाचाँदपुर और टैंग्नौपल के पहाड़ी जिलों में केन्द्रित हैं। 2020 से लेकर फरवरी 2021 तक कानून प्रवर्तन एजेंसियों द्वारा 1, 420 एकड़ अफीम की खेती को नष्ट कर दिया गया है।[1] (सेंटिनल 2021)

डब्ल्यूवाई टैबलेट, एसपी कैप्सूल, मेथाम्फेटामाइन, अफीम, हेरोइन और

ब्राउन शुगर जैसे पोस्त के पदार्थ तथा अन्य प्रतिबन्धित पदार्थों की जब्ती, जिनकी कीमत करोड़ों में है, दैनिक स्थानीय समाचार-पत्रों के प्रथम पृष्ठ की खबर बन गयी है। मणिपुर की भौगोलिक परिस्थिति तथा अफीम द्वारा आय अफीम की खेती के मुख्य कारण हैं।

अपने पहाड़ी इलाकों, दूर-दराज के स्थानों और कठिन पहुँच के कारण ऐतिहासिक रूप से अफीम की खेती के लिए यह क्षेत्र सुरक्षित रहा है। राज्य के कुछ जिले जैसे–उखरुल, चान्देल, सेनापति और तामेंगलोंग (पहाड़ी क्षेत्र), अफीम की खेती के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करते हैं। बुनियादी ढाँचे की कमी और ऊबड़-खाबड़ इलाके के कारण अधिकारियों के लिए इन इलाकों में अवैध खेती को नियन्त्रित करना मुश्किल हो जाता है।

कई किसान अफीम की खेती को अन्य फसलों की तुलना में अधिक लाभदायक विकल्प मानते हैं। अफीम (जिसे हेरोइन में संसाधित किया जाता है) की उच्च माँग अफीम को एक मूल्यवान नकदी फसल बनाती है, खासकर तब जब चावल और सब्जियों जैसी अन्य कृषि-पद्धतियाँ पर्याप्त आय नहीं ला पाती हैं। ग्रामीण इलाकों में अफीम की खेती करने की प्रेरणा शक्ति व्याप्त गरीबी है जिसकी वजह कुछ हद तक राज्य मशीनरी की विफलता है। दशकों से चले आ रहे हैं सशस्त्र संघर्ष, उग्रवाद की समस्या और जातीय हिंसा ने राज्य को पंगु बना दिया है जिससे अर्थव्यवस्था का और बदले में सबसे ज्यादा नुकसान गरीबों को हुआ है।

नशीली दवाओं की तस्करी और प्रभाव

यह क्षेत्र बड़े मादक पदार्थ व्यापार नेटवर्क का एक प्रमुख क्षेत्र है जो दक्षिण-पूर्व एशिया में फैला हुआ है। मणिपुर म्यांमार (जो दुनिया के सबसे बड़े अफीम उत्पादकों में से एक) के करीब होने के कारण, नशीली दवाओं की तस्करी के लिए एक प्रमुख पारगमन बिन्दु के रूप में कार्य करता है। इससे नशीली दवाओं के दुरुपयोग के गम्भीर मुद्दे पैदा हुए हैं, जिसके सामाजिक, स्वास्थ्य और आर्थिक परिणाम विनाशकारी हैं। बड़े पैमाने पर अफीम की खेती के कारण वनों की कटाई से परिस्थिति की तन्त्र पर कई प्रतिकूल प्रभाव पड़े हैं, जिनमें मृदा क्षरण, जैव-विविधता की हानि और स्थानीय जलवायु में परिवर्तन शामिल है।

विवाद और चुनौतियाँ

अक्सर उन्मूलन प्रयासों का विरोध होता है। कुछ स्थानीय समुदायों का दावा है कि सरकार उनकी आजीविका के लिए पर्याप्त विकल्प प्रदान नहीं करती। इसके अतिरिक्त, स्थानीय विद्रोही समूह और नशीली दवाओं के व्यापार में शामिल माफिया अफीम-विरोधी पहल में बाधा डालते हैं जिससे स्थिति और जटिल हो जाती है।

नयी पहल

हाल के वर्षों में, राज्य पुलिस, केन्द्रीय सरकारी एजेंसियों और स्थानीय हितधारकों के संयुक्त प्रयासों से अफीम की खेती को कम करने में कुछ सफलताएँ मिली हैं। कुछ पहल वैकल्पिक फसलों और आजीविका के विकल्पों को बढ़ावा देने पर केन्द्रित हैं, जैसे जैविक खेती, कृषि-पर्यटन और फलों की खेती, लेकिन इनमें सफलता का स्तर अलग-अलग रहा है। कुल मिलाकर, यद्यपि मणिपुर में अफीम की खेती पर अंकुश लगाने के लिए प्रयास किये गये हैं, फिर भी यह एक सतत चुनौती बनी हुई है। इसके लिए बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें कानून प्रवर्तन, आर्थिक विकास और सामुदायिक भागीदारी के बीच सन्तुलन स्थापित करना शामिल है। हालाँकि, राजनीतिक अस्थिरता, बुनियादी ढाँचे की कमी और कुछ समुदायों में अफीम की खेती की जड़ जमाये प्रकृति के कारण इन प्रयासों को चुनौतियों का सामना करना पड़ा है।

उन्मूलन अभियान—सरकार ने समय-समय पर अफीम-विरोधी शिविर तथा अफीम के खेतों को नष्ट करने के लिए अफीम-विरोधी अभियान चलाये हैं। लेकिन इन अभियानों को मिली-जुली सफलता मिली है, क्योंकि उन्मूलन के बाद किसान अक्सर अफीम के पौधे फिर से लगाते हैं।

वैकल्पिक आजीविका कार्यक्रम—किसानों को वैकल्पिक आजीविका प्रदान करने के लिए विभिन्न कार्यक्रम शुरू किये गये हैं।

नशीली दवाओं की लत से मुक्ति और पुनर्वास—नशीली दवाओं के पुनर्वास के उद्देश्य से नशीली दवाओं की लत के खतरों के बारे में जागरूकता अभियान शुरू किये गये हैं।

सीमा पार सहयोग—नशीली दवाओं के व्यापार की अन्तरराष्ट्रीय प्रकृति को देखते हुए, भारत और म्यांमार को नशीली दवाओं की तस्करी से निपटने में सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता है। सीमा को सुरक्षित करना, खुफिया जानकारी साझा करना तथा तस्करी मार्गों की संयुक्त रूप से निगरानी करना आवश्यक हैं।

सामाजिक जागरूकता और सामुदायिक भागीदारी—मणिपुर में अफीम की खेती की समस्या से निपटने के लिए एक मजबूत समुदाय-आधारित दृष्टिकोण की भी आवश्यकता है। सरकार और गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) को जागरूकता बढ़ाने के लिए स्थानीय समुदायों के साथ जुड़ने की आवश्यकता है। अफीम की खेती के उन्मूलन के लिए स्थानीय समर्थन को प्रोत्साहित करना, अफीम की खेती के उन्मूलन में महत्त्वपूर्ण होगा।

इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि मणिपुर में अफीम की खेती का मुद्दा सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। इसके अन्तर्गत कृषि सुधार, नशामुक्ति, कानूनी उपाय और सामाजिक जागरूकता की भूमिका प्रमुख है। इस समस्या को नियन्त्रित करने के लिए केवल सरकार के प्रयास से ही नहीं बल्कि स्थानीय और किसानों के सहयोग की आवश्यक्ता है। वर्तमान में राज्य सरकार और केन्द्र सरकार ने इस समस्या को हल करने के लिए कई कदम उठाये हैं जिसमें अफीम की खेती पर नियन्त्रण, किसानों को वैकल्पिक खेती के लिए लाइसेंस देना और नशे के कारोबार को रोकना शामिल है। इसके बावजूद यह समस्या अभी भी जड़ से खत्म नहीं हुई है और इस पर और कठोर कदम उठाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. epw.in. 6 अगस्त, 2021, खण्ड 58. अंक संख्या 1, 07 जनवरी, 2023।
2. Google search, encyclopedia wikipedia.
3. Manipur mail,local newspaper.

■

तीसरी घण्टी

अब ब्रेख्त का राजनीतिक इस्तेमाल

राजेश कुमार

राजनीति में गाँधी, भगत सिंह और इन दिनों अम्बेडकर सबसे अधिक डिमाण्ड में हैं। इनको नजरअन्दाज करके आप चुनावी वैतरणी पार नहीं कर सकते हैं। इनके बिना संसद-द्वार पर न आप दण्डवत कर सकते हैं, न संविधान की किताब पर सर नवा सकते हैं। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि आप इनके विचार से सहमत ही हों। भले पूर्व में इनकी मूर्तियों को तोड़ा हो या इन पर वैचारिक हमले के रूप में मोटी-मोटी किताबें लिखी हों या किसी को निर्देश देकर लिखवायी हो।

पिछले वर्ष दिल्ली की आप सरकार ने मतदाताओं को रिझाने के लिए अम्बेडकर पर करोड़ों की बजट वाला नाटक दिल्ली में करवाया। बसों में भर-भरकर दर्शकों को लाया और नाटक दिखाया। यह जाहिर करने का प्रयास किया कि वे अम्बेडकर के कितने हितकारी हैं, उनका कितना ख्याल करते हैं। लेकिन एक लक्ष्मण रेखा वे हमेशा खींचे रहते हैं। उसको न वे पार करते हैं, न किसी दूसरे को पार करने की अनुमति देते हैं। अम्बेडकर से जनता को जोड़ने लिए जब उनका एक दलित मन्त्री अम्बेडकर के बाईस शपथ को पालन करने की चर्चा करता है तो उनका रँगा शरीर वास्तविक रूप में आने में जरा भी देर नहीं लगता है। उनका सवर्ण मन जागृत हो जाता है। अम्बेडकर की कीमत पर वह सवर्ण वर्ग की सुरक्षित जमीन गँवाना नहीं चाहता है। तत्काल उसे दण्डित करता है। उसका मन्त्री पद छीन लेता है। सच्चाई यही है कि वह तभी तक अम्बेडकर को सहन करता है जब तक कि उनकी आस्तिकता पर कोई आँच नहीं आती। जहाँ उन्हें लगता है, अम्बेडकर उसकी मूल पर चोट कर रहा है, बड़बड़ाने लगता है, ''बहुत हुआ अम्बेडकर-अम्बेडकर-अम्बेडकर... आजकल तो जैसे अम्बेडकर का नाम लेना फैशन हो गया है। जितना अम्बेडकर का नाम बड़बड़ाते हो, अगर राम का नाम लिये होते तो स्वर्ग पा लिये होते।''

कहने को ऊपर से चाहे जितना कह लो, अगर अन्दर से उसके प्रति वो विचार नहीं तो कभी-न-कभी... किसी मोड़ पर भावना बाहर आ ही जाती है। रंगमंच में इसके एक नहीं कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। ऐसा ही एक उदाहरण पिछले दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में तृतीय वर्ष की छात्र प्रस्तुतियों को देखने का मौका मिला। ज्ञात हो कि देश-भर में जितने भी सरकारी नाट्य संस्थान हैं, वहाँ पाठ्यक्रम में संस्कृत नाटक, शेक्सपियर के नाटक, चेखव-इब्सन-गोर्की के यथार्थवादी नाटक की तरह सालों से ब्रेख्त के नाटक भी सम्मिलित हैं। इस पाठ्यक्रम के तहत छात्रों को ब्रेख्तियन शैली की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जानकारी दी जाती है। ब्रेख्त ने समय और काल को ध्यान में रखते हुए दूसरी शैलियों से अपनी एक अलग नयी शैली इजाद की थी। इसमें उनकी नाटक के कथ्य से लेकर रूप, गीत-संगीत-प्रकाश सम्बन्धित अवधारणा नाटक के माध्यम से लोगों के बीच रखी थी। इसलिए इस अवधारणा से अवगत कराने के लिए ब्रेख्त का कोई-न-कोई नाटक का अभ्यास कराया जाता है। इस बार राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में ब्रेख्तियन नाटक का प्रशिक्षण हेतु रसिया से दो निर्देशकों को आमन्त्रित किया गया था। बर्टोल्ट ब्रेख्त कृत 'द थ्री पेनी ओपेरा' के निर्देशन का भार महिला निर्देशक नतालिया शुर्गानोवा और 'भली इनसान शेजवान' का सर्गेई त्चेकारस्की

लेखक भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार हैं।
+919453737307
rajeshkr1101@gmail.com

को दिया गया। अन्तिम वर्ष के समस्त छात्रों को इन दोनों निर्देशकों को सुपुर्द कर दिया गया था। दोनों नाटक अँग्रेजी से अनुवादित थे। अनुवादक थे आसिफ अली और अमिताभ श्रीवास्तव। नाटक जिस देश और काल का था, उसी में यथावत रखा गया था। हालाँकि इसके कई भारतीय रूपान्तरण हुए हैं और कहीं-न-कहीं किसी संस्थाओं द्वारा आज भी मंचित होते रहते हैं। 'अस्मिता' के निर्देशक अरविन्द गौड़ आज भी 'गुड वीमेन ऑफ शेजवान' का अमिताभ श्रीवास्तव द्वारा किया गया भारतीय रूपान्तरण 'कानपुर की भली औरत रामकली' का मंचन करते रहते हैं।

भले ब्रेख्त के इन दोनों नाटकों का मंचन तृतीय वर्ष के छात्रों के प्रशिक्षण के लिए किया गया लेकिन ब्रेख्त के नाटक केवल तकनीक के स्तर तक सीमित नहीं हैं। ब्रेख्त के सारे नाटक किसी-न-किसी राजनीतिक-सामाजिक परिघटना से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हैं। ब्रेख्त के नाटकों का दायरा काफी विस्तृत है। ब्रेख्त घोषित रूप से भले कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं रहे हैं, लेकिन उसकी विचारधारा से जिन्दगी के अन्तिम क्षणों तक जुड़े रहे। उन्होंने कभी अपने नाटकों में किसी पार्टी विशेष की लाइन को नहीं रखा, पार्टी की आइडलॉजी को मूल में रखकर कोई उपदेशात्मक व प्रचारात्मक नाटक न लिखा, न किया। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि नाटक में पॉलिटिक्स से किनारा किया। विश्व-स्तर पर जो घट रहा था, परिदृश्य बदल रहा था, उसके प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। वे एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी नाटककार थे। उन्होंने उस दौर के फासीवाद को अपने नाटकों में खुलकर लिखा। बल्कि राष्ट्रवाद के नशे में फासिस्टों द्वारा जनता को जिस तरह युद्ध में झोंका जा रहा था, बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों और प्रतिरोध करने वालों पर राष्ट्रद्रोह का आरोप लगाकर झूठे मुकदमों में फँसाकर उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जा रहा था, नाटकों में प्रमुखता से चित्रित किया। लेकिन वही नाटक जब एन.एस.डी., बी.एन.ए. या एम.पी.एस.डी. जैसे सरकार द्वारा संचालित संस्थानों द्वारा होते हैं तो वह वैचारिक पक्ष अनुपस्थित रहता है।

आज देश जिस दौर से गुजर रहा है, किसी से छुपा नहीं है। पिछले कुछ वर्षों से राजनीति में धर्म का घालमेल किया जा रहा है या कहिये सत्ता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्म का किस तरह दुरुपयोग किया जा रहा है, जगजाहिर है। समाज को धर्म और जाति में बाँटकर राजनीतिक ध्रुवीकरण किया जा रहा है, एक समाज के लोगों को दूसरे के प्रति घृणा-नफरत-द्वैष फैलाया जा रहा है, यह किसी भी देश के लिए शुभ संकेत नहीं है। अन्ध राष्ट्रवाद की लहर उत्पन्न कर जिस तरह एक राष्ट्र-एक धर्म-एक भाषा के नारे को तेज किया जा रहा है, कार्यपालिका-न्यायपालिका-मीडिया को अपने कब्जे में लिया गया है, धीरे-धीरे राष्ट्र एक खतरनाक मोड़ पर पहुँच गयी है। राजनीतिक और सामाजिक रूप से वर्तमान हालात को अगर द्वितीय युद्ध के पूर्व के जर्मन को देखें तो वही राष्ट्रवाद और उससे उपजा फासीवाद का प्रतिरूप हमारे यहाँ भी दिखाई देगा। उस फासीवाद के आने की आहट अब सुनाई नहीं दे रही है, बल्कि हमारे घर में घुसकर काबिज हो चुका है। प्रतिरोध करने वालों द्वारा वर्तमान सरकार-सत्ता के लिए जिस तरह 'फासीवादी' शब्द का सम्बोधन किया जाता है, वैसा ही रंगकर्म की दुनिया में ब्रेख्त अपने नाटकों में करते हुए दिखते हैं। लेकिन वही ब्रेख्त जब हिन्दुस्तान के रंगमंच पर सत्ता के संरक्षण में उतारा जाता है तो ब्रेख्त का वास्तविक रूप दिखाई नहीं देता है। जर्मन का नाटककार ब्रेख्त कुछ होता है और भारत का ब्रेख्त कुछ और ही। राष्ट्रवाद की कोख से उपजे युद्ध विभीषिका पर ब्रेख्त अपने कालजयी नाटक 'मदर करेज' में जो तल्ख टिप्पणी करते हुए दिखते हैं वो भारतीय परिवेश में मौजूदा निजाम पर कुछ भी खुलकर कहने से बचता हुआ दिखता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब आज के हालात में ब्रेख्त के नाटकों को एन.एस.डी. में करने का निर्णय लिया जाता है, रसिया जैसे समाजवादी-कम्युनिस्ट कंट्री से निर्देशकों को बुलाकर, एक महीना सघन वर्कशॉप के द्वारा 'अभिमंच' और 'बहुमुख' जैसे सुविधा-सम्पन्न ऑडिटोरियम में मंचन किया जाता है तो उसके पीछे संस्कृति मन्त्रालय और एन.एस.डी. की क्या मंशा रही होगी? छात्रों को केवल ब्रेख्त की नाट्य-शैली से परिचित कराना या नाटक के माध्यम से देश में फैले फासीवाद से दर्शकों को सचेत करना। जिस तरह आजकल एन.एस.डी. सत्ता के शीर्ष पर आसीन हिन्दुत्व विचारवालों से संचालित होती है, बल्कि संस्कृति के क्षेत्र में हिदुत्व प्लाण्ट करने के लिए प्रयोगशाला का कार्य कर रही है, उससे यह तो नहीं लगता कि फासीवाद के विरुद्ध कोई वातावरण उत्पन्न करेंगे? बल्कि ब्रेख्त की शैली के प्रशिक्षण के बहाने उसका अधिग्रहण कर अपने उपयोग में ज्यादा प्रयासरत दिखती है। कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इन्होंने ब्रेख्त का सत्तात्मक रूपान्तरण कर दिया है। मंचित ब्रेख्त के नाटकों का मूल रूप का अध्ययन करें तो यह वंचित-उपेक्षित-हाशिये के लोगों के चित्रण के ही केवल नाटक नहीं हैं, बल्कि व्यवस्था-परिवर्तन कर उसमें आम जन की भागीदारी की वकालत करते हुए दिखते हैं। लेकिन जब सत्ता के रंगमंच पर हिन्दुत्व विचारधारा के सुपरविजन में ब्रेख्त को उतारा जाता है तो उनके पर कटे हुए होते हैं, मुँह पर जाब लगे होते हैं। इसलिए उड़ना चाहें तो उड़ नहीं सकते हैं, मुखर होकर कुछ बोलना चाहें तो बोल नहीं सकते हैं। ब्रेख्त अपने नाटकों में कोरस द्वारा गायन कर जिस तरह कथा को तोड़कर, भावना में बह रहे दर्शकों का ध्यान भंग कर यथार्थ की जमीन पर लाकर सचेत करने का प्रयास करते थे, वे इससे उलट देखने वालों के अन्दर भावनाओं का ज्वार, उन्माद भरने पर बल देते हैं ताकि विवेक किसी कोने में अधलेटा मूर्छित पड़ा रहे। 'द थ्री पेनी ओपेरा' में कोरस के कलाकार जिस तरह भौंड़े तरीके से भोजपुरी रिकॉर्डेड गाना 'लौण्डिया लन्दन से लाएँगे, रात-भर डीजे बजाएँगे' पर नाचते हुए दिखते हैं, वे दर्शकों को तटस्थ कर अपने विवेक पर सोचने के लिए जरा भी मौका नहीं देते हैं। 'भली इनसान शेजवान' में स्वर्ग से ईश्वर के आगमन को शाहरुख खान की फिल्म 'ओम शान्ति ओम' के गाने के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं, वह दर्शकों को अपने अन्दर समाहित कर उसी नजरिये से सोचने के लिए विवश कर देता है जैसा निर्देशक चाहता है। संगीत सम्बन्धित ब्रेख्त की यह कतई अवधारणा नहीं है। वे संगीत का प्रयोग सचेतन करने के लिए एक डिवाइस के रूप में करते थे। उसी तरह ब्रेख्त

की प्रकाश परिकल्पना भी है। वे अपने प्रकाश से दर्शकों को चकाचौंधित नहीं करते थे। एक कविता में ब्रेख्त लिखते हैं– *'मंच पर रोशनी दो इलेक्ट्रिशियन / हम नाटककार और अभिनेता / दुनिया की अपनी तस्वीरों को / कैसे सामने ला सकेंगे / आधे-अँधेरे में? / इस हल्के झुटपुटे से / नींद आती है।/ लेकिन हम तो चाहते हैं / कि दर्शक / जगा रहे, यहाँ तक कि चौकन्ना।'*

जाहिर है ब्रेख्त अपने रंगमंच को आध्यात्मिकता के भूल-भुलैया में रखने के पक्षधर नहीं थे। वे अपने रंगमंच को तर्क-सम्मत रखने के पक्ष में रहते थे। अगर अपने कथ्य में तार्किकता को स्थान देते थे तो कथ्य को उभारने में प्रयुक्त प्रकाश, मंच-सज्जा व वेशभूषा के निर्माण में कोई तिलिस्म खड़ा करने के सोद्देश्य में नहीं लगे रहते थे। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकता पर भरोसा करते थे। उनका प्रयास रहता था कि अगर अभिनेता के ऊपर कोई प्रकाश आ रहा है तो उसकी दिशा क्या है और प्रकाश की प्रकृति क्या है? लेकिन दोनों प्रस्तुतियों में जो प्रकाश था, ब्रेख्त की अवधारणा के विपरीत था। नाटक 'द थ्री पेनी ओपेरा' में प्रयोग के तहत अभिनेताओं के हाथ में छोटे-छोटे टॉर्च थे, जो चेहरे पर डालकर एक रहस्यमय भाव उत्पन्न कर रहे थे। यथार्थवादी नाटकों की तरह रंग-बिरंगी रोशनी और स्मोक्स की भरमार थी। कहीं से भी दोनों नाटक अपनी प्रकाश परिकल्पना में ब्रेख्त की प्रकाश सम्बन्धित अवधारणा को पुष्ट नहीं कर रहे थे। जिस उद्देश्य से छात्रों को ब्रेख्त को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से प्रशिक्षण देने के लिए विशेषज्ञ को बुलाया गया था, वह कहीं से जस्टिफाई नहीं हो रहा था। और ऐसा केवल एन.एस.डी. की प्रस्तुतियों में ही नहीं, इसके पूर्व के दूसरे संस्थानों में भी देखी गयी है। भारतेन्दु नाट्य अकादमी की 'खड़िया का घेरा' में तो एक निर्देशक ने संस्थान के दवाब में कोरस के गायन कलाकारों को भगवा रंग का कुर्ता पहनाकर, माथे पर लाल टीका लगाकर कीर्तनिया मण्डली के रूप में बैठा दिया था। उसी के अनुरूप भजन की शैली में गाते भी थे। इस कारण ब्रेख्त का जो उद्देश्य था, पूर्ण नहीं कर पा रहा था। बल्कि उनकी अवधारणा के ही विपरीत था।

दोनों प्रस्तुतियाँ जिस काल और देश का था, उनकी वेशभूषा उसी के अनुरूप थी। उनका कथ्य, पात्रों के नाम भी वहीं के थे। यही कारण था कि दर्शक सीधे जुड़

नहीं पा रहे थे। अगर इन नाटकों का भारतीय रूपान्तरण होता तो सम्भवतः कुछ जुड़ने की सम्भावना भी जग सकती थी। लेकिन ब्रेख्त ने जिस काल और स्थान से जोड़कर नाटक को लिखा था, अगर उसे वहीं से जोड़कर रखें तो शायद उतनी गहराई से जुड़ पाना सम्भव नहीं है। आज हालात बदल गये हैं, अगर इन नाटकों को स्थानीय सन्दर्भों से जोड़ेंगे तो लोगों के जुड़ने की अत्यधिक सम्भावना जग सकती है। लेकिन ऐसा करने की नीयत न करने वाले की है, न करवाने वाले की। उन्हें ब्रेख्त की विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं है। ब्रेख्त के नाटकों को कराना और प्रशिक्षण के तौर पर इसकी शैली से छात्रों को अवगत कराना इनकी विवशता है, इसलिए रूटीन की तरह प्रति वर्ष कोई-न-कोई नाटक करवाते हैं। क्योंकि नाट्य-जगत में ब्रेख्त इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि कोई भी गम्भीर, जागरूक नाट्य छात्र उन्हें नजरअन्दाज नहीं कर सकता है। भले इनके नाटक की विचारधारा से कोई सहमत न हो, लेकिन उनके रूप से कोई किनारा कर पाना सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जो फासीवादी मानसिकता के होते हैं, वे इसका अधिग्रहण उसी तरह करते हैं जैसे ब्राह्मणवाद का विरोध करने वाले बुद्ध को ब्राह्मणवादियों ने विष्णु का नवाँ अवतार घोषित कर मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर दिया था। यही हाल फिलहाल ब्रेख्त का है। सत्ता को लगा अब ब्रेख्त को रंगमंच की मुख्य धारा से विलग करना सम्भव नहीं है और इसे कुन्द करना भी जरूरी है तो इसका एक ही उपाय है... गाँधी, भगत सिंह और अम्बेडकर की तरह ब्रेख्त का भी अधिग्रहण कर लिया जाये। इसका फायदा यह होगा कि प्रतिपक्ष द्वारा होने वाले हमले के वक्त ब्रेख्त मुखौटा बनकर ढाल की तरह काम आएँगे। बल्कि सामने खड़े प्रगतिशीलों को भरमाने का भी काम करेगा। उनकी मंशा होती है कि ब्रेख्त का चेहरा इतना बदल दें कि जो जुल्मतों के दौर में जुल्मतों के बारे में गाना गाते हैं, उनके स्वर बदल जाये। कथ्य की चर्चा न करें, रूप विमर्श में ही भटकते रहें। उसी तरह जैसे कि अम्बेडकर-अम्बेडकर की रट तो सब लगाते हैं, लेकिन जब वे ब्राह्मणवाद पर बमबार्डिंग की बात करते सुनते हैं तो अपनी असली रूप में आ जाते हैं। ऐसी दुर्दिन-दुर्दशा बना देते हैं कि वास्तविक रूप की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है।

अधिग्रहित ब्रेख्त की दुर्दिन-दुर्दशा का यही कारण है। लेकिन विचारधारा का शमन इतना आसान नहीं है। भगत सिंह का यह कथन अँधेरे में टॉर्च दिखाने जैसा है, 'इंकलाब की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है।'

जब लोग पूछते हैं कि क्या जुल्मतों के दौर में गीत गाये जाएँगे? उस पर ब्रेख्त दमदार आवाज में कहते हैं, ''जी हाँ, जुल्मतों के बारे में गीत गाये जाएँगे।'' और सच्चाई यह है कि कहीं-न-कहीं आज गाये जा रहे हैं...

■

प्रतिवाद, प्रतिबद्धता और 'पहल'

जय प्रकाश

'कल्पना' और 'ज्ञानोदय' के बाद 'पूर्वग्रह' का प्रकाशन, 'पहल' के लगभग साथ ही, शुरू हुआ था। आधुनिकतावाद के साथ ही नये कलावाद की चुनौती भी आ खड़ी हुई थी जिसका सामना 'पहल' को प्रारम्भ से ही करना पड़ा। 'पहल' ने यह कार्य एक संकल्प के साथ किया। यह संकल्प 'इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रतिबद्ध' रचना-कर्म के पक्ष में था। सांस्थानिक पत्रिकाओं की चुनौतियों के सामने पहली बार 'पहल' प्रगतिशील लेखक संघ के मुखपत्र-सरीखी भूमिका में था। प्रगतिशील चेतना और प्रतिबद्ध साहित्य के लिए 'पहल' की यह भूमिका कुछ वैसी ही थी जैसी 1940 के आस-पास 'हंस' की थी।

हिन्दी में 'लघु पत्रिका आन्दोलन' ने प्रतिरोध की चेतना और जनपक्षधर साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है। यूँ तो भारतेन्दु युग से ही व्यावसायिकता से साहित्यिक पत्रकारिता की दूरी रही है, लेकिन 1950 के बाद व्यावसायिक घरानों से निकली पत्रिकाओं और शीतयुद्ध के माहौल में जनपक्षधर साहित्य की जगह सिमटनी शुरू हुई। सीमित साधनों और एकल उद्यम से विष्णुचन्द्र शर्मा ने बनारस से 1957 में कविता-केन्द्रित पत्रिका 'कवि' प्रकाशित की। उसी दौर में 'वसुधा' (जबलपुर), 'नयी दिशा' (बिलासपुर), 'कृति' (नयी दिल्ली) भी निकली। इन तीनों पत्रिकाओं से मुक्तिबोध का गहरा जुड़ाव था। इन्हें वह 'अपनी पत्रिका' मानते थे, और बड़े घराने की व्यावसायिक पत्रिकाओं में छपने से परहेज करते थे। इन पत्रिकाओं में प्रखर वैचारिकता और प्रतिरोध-वृत्ति थी जो आगे चलकर लघु पत्रिकाओं की पहचान बन गयी। साठ और सत्तर के दशक में प्रगतिशील-जनवादी पत्रिकाओं ने लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन की सुदृढ़ नींव रखी। इनमें प्रमुख रूप से 'उत्तरार्द्ध' (सव्यसाची), 'पहल' (ज्ञानरंजन-कमला प्रसाद), 'युग-परिबोध' (रमेश उपाध्याय-आनन्द प्रकाश), 'कथा' (मार्कण्डेय), 'युवा' (उद्भ्रान्त), 'वाम' (चन्द्रभूषण तिवारी), 'परिपत्र' (कौशल किशोर), 'कथन' (रमेश उपाध्याय), 'समारम्भ' (भैरव प्रसाद गुप्त), 'विकल्प' (शैलेश मटियानी) शामिल थीं। युवतर लेखकों को प्रोत्साहित करने में और जनधर्मी साहित्य का वातावरण निर्मित करने में इन पत्रिकाओं की उल्लेखनीय भूमिका थी। इसी दौर में 'कल्पना' और 'ज्ञानोदय' जैसी साधन-सम्पन्न सांस्थानिक पत्रिकाएँ थीं जिनमें स्वायत्तता और लालित्य पर जोर था, प्रतिवाद पर नहीं। तभी फैशन के तौर पर अनेक लघु पत्रिकाएँ भी प्रकट हुई थीं जो गम्भीर साहित्यिक उद्देश्य के बजाय प्रायः लेखकीय महत्त्वाकांक्षा का परिणाम थीं।

दरअसल पचास के दशक में साहित्य के भीतर आधुनिकतावाद के आयात और एक खास तरह के आभिजात्य के चलते साहित्य की जनोन्मुखी धारा को मोड़ने की चेष्टा शुरू हुई थी। आधुनिकता-बोध का साहित्य उन पत्रिकाओं के जरिये सामने जा रहा था, जिनके कलेवर, काठी और चमक के आगे साधनहीन पत्रिकाएँ तुच्छ थीं। आधुनिकवादी साहित्य को शीघ्र ही व्यापक स्तर पर लोकप्रियता भी मिलने लगी। ऐसे वक्त में जन-संवेदना से जुड़े साहित्य के प्रकाशन के अवसर सिमटने लगे। उनसे संघर्ष में 'वसुधा' या 'कृति'–जैसी पत्रिकाएँ संसाधनों के अभाव में अल्पजीवी सिद्ध हुईं। 'नयी कविता' और 'निकष'–जैसी पत्रिकाएँ थीं जो शीतयुद्ध की राजनीति की छाया में आधुनिकतावादी-व्यक्तिवादी चेतना के प्रसार के उपकरण की तरह काम कर रही थीं। ऐसी स्थिति में 'वसुधा' या 'कृति' के अवसान के बाद प्रतिरोध की वैचारिकता संगठित हुई और लघु पत्रिकाओं के संघर्ष ने धीरे-धीरे आन्दोलन का रूप ले लिया।

सत्तर के दशक में ज्ञानरंजन एवं कमला प्रसाद के सम्पादन में जबलपुर से 'पहल' के प्रकाशन के साथ इस संघर्ष को नयी गति मिली। इस समय व्यावसायिक पत्रिकाएँ सफलता के चरम शिखर पर थीं। हिन्दी की सांस्कृतिक चेष्टाओं में उच्च कलात्मक मानदण्डों की स्थापना के नाम पर आभिजात्य की प्रतिष्ठा के प्रयत्न जारी थे। इन प्रयत्नों को राजकीय और प्रातिष्ठानिक संरक्षण भी मिला हुआ था।

'पहल' के लिए साहित्य व्यावसायिक पत्रिकाओं की तरह बिकाऊ माल या सौन्दर्य-विलास का उपकरण न होकर मानवीय जिजीविषा का दस्तावेज था। यही कारण है कि यह महादेश और उसका समाज 'पहल' के सरोकारों के केन्द्र में था। इसलिए 'पहल' के रचनात्मक सरोकार नितान्त साहित्यिक नहीं, साहित्येतर भी थे। अपनी उत्कट प्रतिबद्धता, वैचारिक निष्ठा तथा पक्षधरता के चलते 'पहल' ने लगातार ऐसी सामग्री प्रस्तुत की जो सोद्देश्य और कलात्मक दोनों थी। वह नये रचनाकारों की लोकप्रिय पत्रिका थी। हिन्दी-लेखन में उत्पन्न नवोन्मेष को पहचानने में उसने कोई चूक नहीं की। इसका उदाहरण 1979 में जारी कविता-विशेषांक है, जिसमें

लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं।
+919981064205
jaiprakash.shabdsetu@gmail.com

युवा कविता की उत्कृष्ट सर्जनात्मकता को रेखांकित किया गया था। इसके साथ 1989 में प्रकाशित 37वें अंक (जो दस वर्ष बाद पुनः कवितांक के रूप में प्रकाशित हुआ था) को भी मिलाकर देखें तो हिन्दी कविता के विकास के दो विशिष्ट बिन्दुओं को रेखांकित करने में 'पहल' की तत्परता और उसकी अचूक दृष्टि का अनुमान किया जा सकता है। पहला कवितांक ऐसे समय में जारी हुआ था जब हिन्दी कविता उग्रता, बड़बोलेपन और राजनीतिक जुमलेबाजी की सपाट रूढ़ियों से मुक्त होकर मानवीय बिम्बों की सर्जनात्मकता तथा जीवन के दैनिक परिदृश्य को नयी तरह की ऐन्द्रिकता में अर्जित कर रही थी। यह एक महत्त्वपूर्ण बदलाव था, जिसका स्वागत अन्यत्र 'कविता की वापसी'–जैसे जुमलों के सहारे अथवा कविता-संग्रहों के बड़ी संख्या में प्रकाशन को रेखांकित करते हुए किया गया। 'पहल' ने इसे जीवनधर्मिता की ओर, वास्तविक जीवन-संघर्ष की ओर कविता के अग्रसर होने की घटना माना। सामाजिक यथार्थ की केन्द्रीय प्रतिष्ठा पर बल देते हुए सम्पादकीय में उसे सामाजिक उत्पादन की तरह बरतने का परामर्श दिया गया था। जाहिर है, कविता में यथार्थ के साथ विकसित हो रहे नये-नये मानवीय सम्बन्ध को जिसमें जीवन-बोध और ऐन्द्रिकता के पुनर्वास को प्राथमिकता दी गयी थी, 'पहल' ने बहुत सकारात्मक माना। नवें दशक में ये सम्बन्ध और पुख्ता हुए थे। किन्तु नवें दशक के अन्त तक कविता की ऐन्द्रिक संवेदना के एक तरह के रीतिवाद में ढल जाने का खतरा निर्मित होने लगा था। तब 'पहल' ने दूसरा कविता-विशेषांक प्रकाशित कर अपनी चेतावनी को दुहराया। हिन्दी की समकालीन कविता के विकास की दिशा में 'पहल' का यह सार्थक हस्तक्षेप था।

कहानी विधा के लिए भी 'पहल' ने सचेत योगदान दिया है। नयी कहानी के उतार के बावजूद हिन्दी में अनुभववाद कहीं-न-कहीं बराबर सिर उठाता रहा है। उसके प्रतिरोध के लिए यथार्थवाद के प्रति बढ़ते आग्रह ने भी जनवादी कहानी–जैसे अवतार में एक तरह के रीतिवाद का ही रूप ले लिया था। 'पहल' ने निरन्तर ऐसी कहानियाँ प्रकाशित कीं, जो अनुभववाद और जनवादी रीतिबद्धता दोनों से मुक्त थीं तथा यथार्थ को उसकी समूची सामाजिकता और वास्तविक जीवन-सन्दर्भों के बीच से अन्वेषित करने में सक्षम भी थीं। 1985 में ऐसी कहानियों पर केन्द्रित विशेषांक प्रकाशित हुआ। यह खासा चर्चित रहा–न सिर्फ कहानियों की वजह से, बल्कि कहानी की सैद्धान्तिकी और उसकी व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी बहस को एक नया आयाम देने के कारण भी। इस अंक की अनुषंग-पुस्तिका के रूप में डॉ. नामवर सिंह का सुरेश पाण्डेय के द्वारा लिया गया साक्षात्कार उल्लेखनीय है। इसके पैंतीस वर्ष बाद 'पहल' का दूसरा कहानी विशेषांक 2020 में प्रकाशित हुआ। इसमें संकलित कहानियाँ समकालीन समय का सामना करते हुए उसके आर-पार जाती हैं। आधुनिक विकास की नृशंसता में पल रही लम्पट सभ्यता की हिंस्र महत्त्वाकांक्षा के लपलपाते विस्तार, प्रभुसत्ता की क्रूरता, धर्म के बढ़ते उन्माद, स्त्री की दुर्नियति–जैसे ज्वलन्त विषयों पर एकाग्र ये कहानियाँ परिवेश के प्रति कथाकार की जागरूकता का उसी तरह साक्ष्य बनती हैं जिस तरह 1985 के कहानी विशेषांक में दिखाई देती थीं।

'पहल' सिर्फ सृजन की नहीं, विचार की भी पत्रिका थी। रचना-कर्म में वस्तुतः सृजन और विचार को अभिन्न रूप में ही देखा जाना चाहिए। रचनाकार के सृजनात्मक मानस के निर्माण में साहित्य के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य की अनिवार्य भूमिका होती है। इसलिए 'पहल' ने अपने प्रकाशन के प्रारम्भिक वर्षों में ही मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र पर एक महत्त्वाकांक्षी अंक प्रकाशित किया जिसमें मार्क्सवादी सौन्दर्य दर्शन के प्रस्तावकों मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ से लेकर क्रिस्टोफर कॉडवेल, रेल्फ फॉक्स, जॉर्ज थॉम्सन, लूनाचार्स्की, प्लेखानोव, दोब्राल्युबोव, ब्रेख्त, लूकाच आदि विचारकों के चिन्तन का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है। आज भी यह संकलन वैज्ञानिक यथार्थवाद की साहित्य-दृष्टि को समझने की पुख्ता समझ प्रदान करता है। इस संकलन के अतिरिक्त 'पहल' में समय-समय पर साहित्यशास्त्र और व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किये गये। पिछले चार दशकों से अधिक की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की गम्भीर समीक्षाएँ जिस दायित्व के साथ 'पहल' ने छापी हैं, वह अन्यत्र अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ती है।

'पहल' की शक्ति और सफलता उसकी अडिग वैचारिक निष्ठा में निहित है। संस्कृति और सामाजिक रूपान्तरण सम्बन्धी बहसों को 'पहल' में सदैव शीर्ष पर रखा गया तथा अपसंस्कृति और प्रतिगामी जीवन-मूल्यों के प्रति निरन्तर आगाह किया गया। 1989 में प्रदीप सक्सेना द्वारा तैयार बुलेटिन 'सांस्कृतिक संकट गहरा रहा है' जारी कर 'पहल' ने समकालीन परिदृश्य पर लेखकों से गम्भीरता के साथ पुनर्विचार करने का आह्वान किया। कर्मेन्दु शिशिर द्वारा लिखित पुस्तिका 'सवाल सिर्फ भाषा का नहीं है' में भाषा की समस्या को साम्राज्यवाद की हिंस्र महत्त्वाकांक्षाओं के साथ जोड़कर देखा गया है। अपने 50 वें अंक में 'पहल' ने सांस्कृतिक संकट को अधिक व्यापकता में देखते हुए प्रतिरोध की सैद्धान्तिकी को रेखांकित किया। इस अंक में उत्तर-आधुनिकता सम्बन्धी बहस को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश को लक्ष्य किया जा सकता है।

हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण लेखकों की आरम्भिक रचनाएँ 'पहल' में ही आयी हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी युवा आलोचकों को 'पहल' ने प्रकाशित किया। ज्ञानरंजन ने उन्हें न सिर्फ गम्भीर अध्ययन और तैयारी के साथ लिखने के लिए प्रेरित किया, बल्कि आवश्यकतानुसार सामग्री भी उपलब्ध करायी। अपनी सुदीर्घ यात्रा में 'पहल' में हिन्दी, भारतीय भाषाओं और विश्व साहित्य के 50 हजार से अधिक पृष्ठों की विपुल सामग्री प्रकाशित की है। जर्मन, रूसी, चीनी, अँग्रेजी, फ्रेञ्च, और स्पेनिश भाषाओं के चयनित साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंश से 'पहल' ने हिन्दी पाठकों को परिचित कराया है। फासीवाद-विरोधी अंक, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र, वाल्टर बैंजामनि, दो समकालीन कवितांक (1979 और 1989), दो कहानी अंक (1985 और 2020), नवें दशक के कथा-परिदृश्य पर एकाग्र अंक, इतिहास अंक, पंजाबी, मराठी, उर्दू, कश्मीरी साहित्य के प्रतिनिधि विशेषांक जैसे यादगार अंक 'पहल' को शीर्ष साहित्यिक पत्रिका के रूप में स्थापित करने के लिए पर्याप्त हैं। जन-संवेदना से प्रेरित साहित्य-दृष्टि से सम्पन्न शायद ही कोई वरिष्ठ या युवतर लेखक होगा जो पहल' में न छपा हो। देशान्तर के महत्त्वपूर्ण साहित्य को सामने लाने के अलावा 'पहल'

ने पड़ोसी देशों के साहित्य के महत्त्व को भी रेखांकित किया और 'पाकिस्तान में उर्दू कलम', 'बांग्लादेश का साहित्य' और 'चीन का समकालीन साहित्य' पर केन्द्रित विशेषांक प्रस्तुत किये। तीसरी दुनिया के साहित्य की ओर भी 'पहल' की नजर रही। अफ्रीकी साहित्य पर केन्द्रित अंक इस सिलसिले में याद किया जा सकता है। चीनी, फ्रेञ्च, स्पेनिश, रूसी, जर्मन और अँग्रेजी की श्रेष्ठ रचनाओं से भी 'पहल' हिन्दी के पाठकों का परिचय कराया। समकालीन यथार्थ को समझने की दृष्टि से 'पहल' का एक और महत्त्वपूर्ण अंक 'विज्ञान पुराण, सांस्कृतिक भौतिकवाद और नया आर्थिक साम्राज्यवाद' याद आता है। इसमें तापस चक्रवर्ती, रविभूषण और एंड्रयू मिलर के तीन महत्त्वपूर्ण आलेख हैं जो समकालीन जीवन-यथार्थ को समझने की नयी दृष्टि देते हैं।

'पहल' ने साहित्य, संस्कृति और समाज से जुड़े कुछ उल्लेखनीय मुद्दों पर अनुषंग पुस्तिकाएँ जारी की हैं। इनमें प्रलेसं के बाँदा सम्मेलन के दस्तावेज, नरेन्द्र जैन द्वारा यूली बेयर के अँग्रेजी अनुवाद से अनूदित अफ्रीकी आदिवासी कविता पर पुस्तिका 'अपने बच्चे के लिए शेरनी का गीत' (1978), पाब्लो नेरूदा की लम्बी कविता 'माच्चू पिच्चू के शिखर' का नीलाभ द्वारा किया गया अनुवाद, चेक कवि मिरोस्लाव होलुब की कविताओं के सुरेश सलिल द्वारा किये गये अनुवादों का चयन 'दुनिया का सबसे गहरा महासागर' (2000) और चिली की कवयित्री गाब्रिएला मिस्त्राल की कविताओं का चयन 'पृथ्वी का बिम्ब' (2001) उल्लेखनीय हैं। वीरेन्द्र यादव का लम्बा निबन्ध पहल पुस्तिका के रूप में मार्च 1998 में प्रकाशित हुआ। सियाराम शर्मा का 'कविता का तीसरा संसार' (नवम्बर-दिसम्बर-जनवरी-1995-96), 'भारतीय मुसलमानों की मानसिकता और सामाजिक संरचना' पर फखरुद्दीन बेनूर के लम्बे लेख का सूर्यनारायण रनसुभे द्वारा मराठी से अनुवाद (1998), 'कथा समय' (कहानी पर एकाग्र दो पुस्तिकाएँ, 1998), गुजरात त्रासदी पर फूलचन्द गुप्ता की लम्बी कविता 'हे राम!' (2002), शरद कोकास की लम्बी कविता 'पुरातत्त्ववेत्ता' (2005), इराक में अमरीकी हस्तक्षेप की वास्तविकता का उद्घाटन करते इलियट वाइनबर्गर के लम्बे लेख का व्योमेश शुक्ल का अनुवाद 'मैंने इराक के बारे में जो सुना' (2006), चेखव की लम्बी कहानी का जातशत्रु द्वारा अनुवाद 'गली गवाह थी' (2006), बाबा नागार्जुन पर तारानन्द वियोगी का दीर्घ संस्मरण 'तुमि चिर सारथि' (2006), वर्तमान दौर का परीक्षण करता एजाज अहमद का लेख 'किसकी सदी, कैसी सहस्राब्दी' (2007), 1857 की 150वीं वर्षगाँठ पर कर्मेन्दु शिशिर का विश्लेषण (2007), प्रदीप सक्सेना का सव्यसाची पर मोनोग्राफ (2008), गालिब की फारसी गजलों का के.एम. सुल्तान का किया हिन्दी अनुवाद, पाकिस्तानी कवि अफजाल अहमद सैयद की नज्मों का चयन पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक विकास, तकनीक, उसके दुरुपयोग और उसकी पक्षधरता, मानवीय शोषण और वैश्वीकरण के ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं पर जितेन्द्र भाटिया की महत्त्वपूर्ण लेखमाला 'पहल' के 61वें अंक (अप्रैल-जून, 1999) से 71वें अंक (अप्रैल-मई, 2002) तक जारी रही। 72वें अंक (अगस्त-सितम्बर, 2002) से जितेन्द्र भाटिया की नयी धारावाहिक शृंखला 'इक्कीसवीं सदी की लड़ाइयाँ' आरम्भ होकर अंक 88 (मार्च, 2008) तक जारी रही। इस दौरान 14 आलेख प्रकाशित हुए। चार वर्ष के अन्तराल के बाद जनवरी, 2013 में यह शृंखला पुनः प्रारम्भ हुई और जनवरी, 2016 में 25वीं किस्त के साथ इसका समापन हुआ।

प्रगतिशील वामपन्थी वैचारिक आग्रह के साथ अपनी समावेशिता और सन्तुलन-दृष्टि के चलते 'पहल' दशकों तक हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिका बनी रही। 1973 से 2021 तक यह अपनी अनियतकालिक आवृत्ति के साथ 47 वर्ष निरन्तर छपती रही। 125वाँ अंक उसका अन्तिम अंक था। जाहिर है, कोई भी उपक्रम अन्ततः समापन के बाद ही पूर्णता प्राप्त करता है। 'पहल' का भी समापन होना था। लेकिन 'पहल' ने अपने सुदीर्घ जीवन-काल में अपने होने की सर्तकता सतत प्रमाणित की। जन-प्रतिबद्धता के बुनियादी संकल्प का उसने सदैव अचूक निर्वाह किया। उसने प्रमाणित किया कि प्रतिबद्धता का यह संकल्प लघु-पत्रिका आन्दोलन का मूल है। ऐसा नहीं है कि 'पहल' की निरन्तरता में व्यवधान न आये हों। नब्बे अंक निकलने के बाद 2009 में इसे बन्द कर दिया गया था। मगर दो-ढाई वर्ष के अन्तराल के बाद वह पुनर्जीवित हो उठी। ज्ञानरंजन ने सम्पादन और प्रबन्ध में कुछ नये सहयोगियों को जोड़कर इसे फिर शुरू किया। उसके बाद उत्तरार्ध की यात्रा में आगे उसके 35 अंक निकले।

कविता और कथा-साहित्य को समान रूप से स्थान देने के बावजूद युवा कविता की संवेदना और समझ के विकास में 'पहल' का अप्रतिम योगदान रहा है। पिछले पचास वर्षों की कविता को जन-प्रतिबद्धता के करीब लाने में उसकी महती भूमिका है। विचारधारा और जनसंघर्ष के प्रश्नों को भी 'पहल' ने समस-समय पर उठाया। इसलिए उसे विवाद और आक्रमण का सामना भी करना पड़ा। किन्तु निरन्तर वह प्रतिवाद और प्रतिरोध का अडिग मंच बना रहा। समाज और साहित्य में प्रगति-विरोधी, साम्प्रदायिक और अधिनायकवादी प्रवृत्तियों से 'पहल' ने करीब आधी सदी तक संघर्ष किया।

'पहल' ने सामाजिक संवेदना के विस्तार और मनुष्यद्रोही शक्तियों की पहचान में साहित्य की निर्णायक भूमिका को रेखांकित करते हुए हिन्दी-लेखकों के बीच एक इकोसिस्टम निर्मित किया। मानवीय स्वतन्त्रता के आग्रह के साथ शोषण और विभेद पर आधारित पूँजीवादी विचारधारा के प्रतिरोध की संस्कृति के विकास में साहित्य की भागीदारी सुनिश्चित करने और हिन्दी के युवा लेखकों को प्रेरित करने में उसका योगदान अप्रतिम है। लगभग पाँच दशकों तक वह लेखकों की प्रशिक्षणशाला की तरह थी। उसके चलते समाज में अन्ध राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिक फासीवाद के उभार के बीच हिन्दी साहित्य में प्रतिरोध की एक सशक्त वैचारिकता विकसित हुई। भारत ही नहीं, विश्व के इतर स्थानों पर जहाँ भी पूँजी के अधिनायकवाद और अमानुषिकता के विरुद्ध प्रतिरोध के साहित्यिक-सांस्कृतिक केन्द्र निर्मित हो रहे थे, 'पहल' ने हिन्दी रचनाशीलता को उससे जोड़ा। साहित्य के लिए यदि प्रतिरोध धर्म है तो 'पहल' यथास्थितिवाद के विरुद्ध प्रतिरोध की पत्रिका थी।

■

सीरिया में सबेरा कितनी दूर?

धीरंजन मालवे

धर्म निरपेक्षता की बात करना अल शारा की रणनीतिक मजबूरी है। पश्चिमी देश उन्हें और उनके संगठन को आतंकवादी मानते हैं। यदि उन्हें देश की पूरी तरह से टूट चुकी अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाना है तो पश्चिमी देशों का समर्थन आवश्यक होगा और इसके लिए उनकी धर्म निरपेक्षता की छवि जरूरी हो जाती है।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों को यह तो लगता था कि एक-न-एक दिन ऐसा होकर ही रहेगा, मगर यह अचानक और इस तेजी से घटित होगा, इसकी कल्पना किसी को भी नहीं थी।

ऐसी कल्पना न कर पाने के भी कारण थे। सन् 2011 में अनेक अरब देशों में बदलाव की आँधी चली थी। जनता लम्बे समय से हुकूमत कर रहे अपने हुक्मरानों से ऊबी हुई थी और पुरानी व्यवस्था को उखाड़कर कुछ नया चाहती थी। दशकों से शासन कर रहे तानाशाहों को एक-एक कर उनके देश की जनता ने उखाड़ फेंका–ट्यूनीशिया के जीन अल आबदीन बेन अली, लीबिया के मुअम्मर गद्दाफी, मिस्र के होस्नी मुबारक और यमन के अली अब्दुल्लाह सालेह जैसे शासक 2012 आते-आते इस आँधी में उड़ गये। बदलाव की यह आँधी, जिसे अरब स्प्रिंग का नाम दिया गया था, सीरिया भी पहुँची थी। सीरिया की जनता भी अपने तानाशाह बशर अल असद के कुशासन से परेशान थी। 2011 में यहाँ भी देश की जनता लोकतन्त्र के समर्थन में उठ खड़ी हुई थी। लेकिन बशर की सत्ता को उखाड़ नहीं पायी। ईरान, रूस और ईरान समर्थित लेबनानी शिया सैन्य संगठन हिजबुल्लाह की मदद से बशर अपनी गद्दी बचाने में सफल होते रहे। यह बात अलग थी कि देश के अलग-अलग हिस्सों पर विद्रोही गुटों का कब्जा होता जा रहा था। लेकिन बकरे की माँ आखिर कब तक खैर मनाती। बशर का एक दोस्त रूस युक्रेन के साथ युद्ध में उलझ गया। उधर अन्य मित्र ईरान और उसके द्वारा सम्पोषित संगठन–हमास, हिजबुल्लाह और यमन के हुती विद्रोही-इजराइल के साथ उलझे हुए थे। बशर की अपनी सेना में इतना दम नहीं था कि वह विद्रोही गुटों के साथ अकेले ही निपट पाती।

26 नवम्बर, 2024 के दिन इजराइल और हिजबुल्लाह ने आपसी संघर्ष को विराम देने का निर्णय लिया। संघर्ष विराम की शर्तों के अन्तर्गत हिजबुल्लाह इजराइल को अनेक बड़ी रियायतें देने को सहमत हुआ। हिजबुल्लाह की इस संघर्ष में कमर इतनी टूट चुकी थी कि लेबनान के बाहर के किसी मित्र देश की मदद करने की हालत में नहीं था। बशर के विरोधी इसी मौके की ताक में थे। ठीक दूसरे ही दिन यानी 24 नवम्बर, 2024 को एक सुन्नी इस्लामी संगठन हयात तहरीर अल साम ने कतिपय अन्य विद्रोही गुटों को साथ लेकर सीरिया की सरकारी फौजों के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। सीरिया की सरकारी फौजें अन्दर से खोखली हो चुकी थीं और विदेशी बैसाखी पर टिकी थीं। लिहाजा उन्होंने हयात तहरीर अल साम (एच.टी.एस.) की लगातार बढ़त का नहीं के बराबर विरोध किया। एच.टी.एस. के नेतृत्व में विरोधी

लेखक बीबीसी में प्रसारणकर्मी एवं प्रसार भारती के पूर्व उच्चाधिकारी रहे हैं।
+919810463338
dhiranjan@gmail.com

फौजें सीरिया की राजधानी दमिश्क की तरफ लगातार बढ़ती गयीं और रास्ते में आने वाले नगर–अलेप्पो, हामा दाराआ, होम्स, ताश के पत्तों की तरह गिरते चले गए। 7 दिसम्बर के दिन, यानी मात्र 10 दिनों के भीतर एच.टी.एस. के नेतृत्ववाली विद्रोही सेनाएँ राजधानी दमिश्क में थीं। 8 दिसम्बर, 2024 के दिन विद्रोहियों ने बशर अल असद की तानाशाही से सीरिया की मुक्ति की घोषणा कर दी। असद 8 दिसम्बर की सुबह ही विद्रोहियों की नजर बचाकर दमिश्क से भाग निकलने और रूस पहुँचकर वहाँ राजनीतिक शरण लेने में सफल रहे। उनका परिवार एक सप्ताह पहले से ही रूस में था। इस प्रकार बशर अल असद की सत्ता के विरुद्ध 13 वर्षों से चल रहे गृह-युद्ध का अन्त हुआ।

26 नवम्बर, 2024 के दिन इजराइल और हिजबुल्लाह ने आपसी संघर्ष को विराम देने का निर्णय लिया। संघर्ष-विराम की शर्तों के अन्तर्गत हिजबुल्लाह इजराइल को अनेक बड़ी रियायतें देने को सहमत हुआ। हिजबुल्लाह की इस संघर्ष में कमर इतनी टूट चुकी थी कि लेबनान के बाहर के किसी मित्र देश की मदद करने की हालत में नहीं था। बशर के विरोधी इसी मौके की ताक में थे।

इस गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि समझने के लिए हमें सीरिया के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। पहले विश्वयुद्ध तक सीरिया तुर्की के आटोमन साम्राज्य का हिस्सा होता था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात आटोमन की समाप्ति हुई और सीरिया तथा लेबनान की तात्कालिक जवाबदेही लीग ऑफ नेशन्स (मौजूदा संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ववर्ती संगठन) के पास आ गयी। इसने यह जवाबदेही फ्रांस को सौंपी। यह जवाबदेही एक अस्थायी व्यवस्था थी और इसके अन्तर्गत फ्रांस को उस समय तक के लिए एक संरक्षक की भूमिका निभानी थी जब तक देश एक स्वतन्त्र और सार्वभौम राष्ट्र के रूप में तैयार न हो जाये। ऐसी स्थिति आते ही संरक्षक के रूप में फ्रांस की भूमिका का अन्त हो जाना था। 1945 में एक संसदीय गणतन्त्र बनते ही सीरिया कानूनी रूप से एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया और संस्थापक सदस्य के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ में भी शामिल हो गया। लेकिन वास्तविक अर्थों में सीरिया को आजादी तब मिली जब इसकी धरती से अप्रैल 1946 में फ्रांसीसी सैनिकों ने स्थायी रूप से कूच किया।

1946 में आजादी तो मिल गयी मगर देश में घोर राजनीतिक अस्थिरता बनी रही। 1949 और 1971 के बीच सैन्य विद्रोह और तख्ता पलट की घटनाएँ होती रहीं। 1970 में सत्ता की बागडोर एक सैनिक जनरल, हाफिज अल असद के हाथों में आ गयी। राष्ट्रपति असद एक निरंकुश और निर्मम तानाशाह थे और सन् 2000 में अपनी मृत्यु तक एक निरन्तर चले दमन-चक्र के द्वारा उन्होंने अपने विरोधियों को या तो काबू में रखा या उनका सफाया करते रहे। जहाँ तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, सीरिया की राजकीय आमदनी का अधिकांश हिस्सा हथियारों का जखीरा खड़ा करने पर होता था और देश के विकास कार्यों के लिए नाममात्र की ही राशि बच पाती थी।

हाफिज अल असद की मृत्यु के बाद उनके बेटे बशर अल असद ने देश की कमान सँभाली। बशर अल असद का अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में देश का राष्ट्रपति बनना महज संयोग था। असली उत्तराधिकारी हाफिज के सबसे बड़े बेटे बासेल अल असद थे मगर जनवरी 1994 के एक दिन कार दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी। उस समय बशर लन्दन में अपनी डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी कर एक नेत्र रोग विशेषज्ञ बन चुके थे और अपना शेष जीवन इसी रूप में बिताना चाहते थे। वे एक अत्यन्त संकोची, शान्त और अलग-थलग रहने वाले व्यक्ति थे और उनके व्यतित्व में ऐसा कुछ भी नहीं था जो एक राष्ट्र के नेतृत्व के लिए आवश्यक गुणों को दर्शाता हो।

पिता के आदेशानुसार उन्हें सीरिया वापस आना पड़ा और यह तय किया गया कि समय आने पर अपने पिता के उत्तराधिकारी वही होंगे। सन् 2000 में जब पिता की मृत्यु के बाद वे राष्ट्रपति बने तो आम धारणा यही थी कि वे अपने पिता की नीतियों को तिलांजलि देकर देश में लोकतन्त्र, नागरिकों की स्वतन्त्रता और प्रेस की आजादी की नयी बयार लाएँगे। अपने शुरुआती दिनों में उन्होंने इस दिशा में कुछ ईमानदार प्रयास भी किये। लेकिन कुछ ही समय बाद वे अपने पिता की तानाशाही और दमनकारी शैली पर उतर आये। किसी भी प्रकार के राजनीतिक विरोध को सेना और सुरक्षा सेवाओं की मदद से अत्यन्त बेरहमी से दबाया गया। इस प्रकार निरन्तर दबाये गये जन आक्रोश का प्रस्फुटन 2021 में प्रारम्भ हुए गृह-युद्ध के रूप में हुआ।

गृह-युद्ध में कई अलग-अलग विद्रोही गुट थे जिनके उद्देश्य एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। प्रारम्भ में विपक्षी गुटों ने फ्री सीरियन आर्मी नाम का संगठन बनाया था जिसे खाड़ी सहयोग परिषद के सदस्य देशों, तुर्की और कतिपय पश्चिमी देशों से मदद मिलती थी। 2014 में इस्लामिक स्टेट नामक आतंकवादी संगठन सामने आया जिसके अपने अलग हित और उद्देश्य थे और उसने न केवल सीरियाई शासकों के विरुद्ध बल्कि विद्रोहियों के विरुद्ध भी संघर्ष छेड़ दिया। प्रारम्भ में इसने सीरिया के अनेक इलाकों को तो अपने कब्जे में लिया ही, इराक में भी इसे भारी सामरिक सफलताएँ मिलीं। इससे अमेरिका चौकन्ना हुआ और सीरियाई गृह-युद्ध में अत्यन्त सक्रिय रूप से शामिल हो गया। उसने कुर्द की बहुलता वाले सैन्य संगठन सीरियन डेमोक्रेटिक फोर्सेज के समर्थन में अपने सैन्य युद्धक विमान तो उतारे ही, अन्य प्रकार की सहायता से भी इस संगठन की मदद की। कुर्द लम्बे समय से अपने लिए एक स्वतन्त्र देश की माँग कर रहे थे और उन्होंने इस उथल-पुथल का पूरा लाभ लेने के लिए अभियान चलाया। परिणामतः देश के पूर्वी भाग का एक बड़ा हिसा इनके कब्जे में आ गया और कब्जा अभी भी बना हुआ है।

जहाँ तक इस्लामिक स्टेट का सवाल है, सीरियाई गृह-युद्ध में अमरीका और रूस के हित बिल्कुल विपरीत थे लेकिन इस्लामिक स्टेट के निर्मूलन को लेकर दोनों में सहमति

थी। आपसी सहयोग द्वारा इस्लामिक स्टेट के विरुद्ध चलाये गये अभियान के फलस्वरूप 2017 के अन्त तक इसका लगभग खात्मा हो गया।

2017 के बाद सीरियाई गृह-युद्ध में यथा-स्थिति बनी रही। बशर ने रूस, ईरान और हिजबुल्लाह की मदद से अपनी सत्ता बचाये रखी। यह अलग बात है कि उनका नियन्त्रण देश के लगभग दो-तिहाई इलाके पर ही था। शेष भाग अलग-अलग विद्रोही गुटों के कब्जे में थे।

मगर जैसा कि शुरू में ही हम चर्चा कर चुके हैं, 27 नवम्बर, 2024 से घटनाक्रम में तेजी से परिवर्तन हुआ और बाहर से किसी प्रकार से टिकी रहने की लगातार कोशिश करती हुई बशर की सत्ता की जर्जर इमारत 8 दिसम्बर, 2024 आते-आते भरभराकर बिखर गयी।

बशर की सत्ता खत्म होने के बाद नागरिकों में खुशी की लहर दौड़ गयी। मगर यह खुशी बहुत स्थायी नहीं लगती। एच.टी.एस. के नेता अहमद अल शारा फिलहाल सीरिया के एक बड़े हिस्से के सर्वेसर्वा हैं। मगर उनके सामने अनेक चुनौतियाँ मुँह बाये खड़ी हैं। एक चुनौती तो सीरिया की नस्लीय और धार्मिक भिन्नताओं को आदर और मान्यता देने तथा देश में एक ऐसा शासन स्थापित करने की है जिसके लिए हर नागरिक समान हो। वैसे तो देश में 70 से 75 प्रतिशत आबादी अरब सुन्नी मुसलमानों की है, लेकिन इनके अतिरिक्त 10 प्रतिशत आबादी अलावाइट समुदाय की है और इतनी ही आबादी ईसाइयों की है। शेष 5 से 10 प्रतिशत में इजु, इस्माइली, येजदी इत्यादि समुदाय आते हैं। अलावाइट भले ही अल्पसंख्यक हैं मगर देश पर उनका प्रभुत्व और प्रभाव लम्बे समय से चला आ रहा है। हाफिज और बशर इसी समुदाय से थे। देश में अभी तक धर्मनिरपेक्षता का पालन होता रहा है, लेकिन यह भय व्यक्त किया जा रहा है कि आगे आने वाले दिनों में कट्टरपन्थी सुन्नी इस्लामी शासन ही स्थापित होने वाला है। अल शारा ने इस आशंका का खण्डन किया है लेकिन उनकी पुरानी पृष्ठभूमि कट्टरपन्थ की है और उनके सहयोगियों में बड़ी संख्या कट्टरपन्थियों की है। अब उनके दबाव की अनदेखी करना अल शारा के लिए कठिन होगा।

यह भी माना जा रहा है कि धर्म-निरपेक्षता की बात करना अल शारा की रणनीतिक मजबूरी है। पश्चिमी देश उन्हें और उनके संगठन को आतंकवादी मानते हैं। यदि उन्हें देश की पूरी तरह से टूट चुकी अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाना है तो पश्चिमी देशों का समर्थन आवश्यक होगा और इसके लिए उनकी धर्म निरपेक्षता की छवि जरूरी हो जाती है।

दूसरी बड़ी समस्या पूरे देश पर नियन्त्रण स्थापित करने की है। फिलहाल अल शारा के अधिकार में देश का दो-तिहाई हिस्सा ही है। एक-तिहाई हिस्से पर अन्य विद्रोही गुट काबिज हैं और अच्छी-खासी सामरिक ताकत रखते हैं। उन्हें एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन कर पाना एक बड़ी चुनौती होने वाली है।

एक और बड़ी समस्या विदेशी ताकतों को लेकर है। तेरह साल तक चले गृह-युद्ध के दौरान देश में अमरीका, रूस, ईरान और तुर्की सहित अनेक देशों के निहित स्वार्थ सीरिया से जुड़ गये और वे अपने-अपने कारणों से अलग-अलग विपक्षी गुटों का समर्थन करते रहे हैं। इन सभी देशों के स्वार्थ आपस में टकराते भी हैं। ऐसे में वे अपने-अपने हितों की ही परवाह करेंगे, सीरिया में शान्ति और एकता की नहीं।

सत्ता, प्रभुत्व और वर्चस्व के इस क्रूर खेल में सबसे बुरी स्थिति आम लोगों की है। सीरियाई गृह-युद्ध में 2022 के एक आकलन के अनुसार 6 लाख लोग मारे गए, 1.3 करोड़ लोग बेघर हुए और 70 लाख लोग दूसरे देशों में शरण लेने को विवश हुए। दूसरे देशों में रह रहे शरणार्थियों की वापसी एक बड़ी समस्या है और यह तभी सम्भव हो पाएगी जब देश के हालात इसके अनुकूल होंगे। फिलहाल तो ऐसा हो पाना किसी आकाश कुसुम को प्राप्त करने जैसा प्रतीत होता है।

■

साहित्यिक पत्रकारिता के तीन दशक

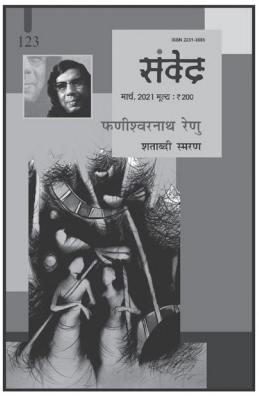

सम्पादक
किशन कालजयी

एक अंक : चालीस रुपये
विशेषांक : दो सौ रुपये
वार्षिक सदस्यता : सात सौ रुपये
एक हजार रुपये (रजिस्टर्ड डाक से)

B-3/44, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
+91 8340436365
linkedin.com/company/samvedindia
samved.sablog.in
facebook.com/samvedmasik
samvedmonthly@gmail.com
twitter.com/samvedindiaInstagram
instagram.com/samvedindia

परती परिकथा

हिन्दी प्रदेश के मध्यवर्ग का अहंकार

हितेन्द्र पटेल

हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता से राजनेताओं का जुड़ाव कम रहा। गाँधी जी के अलावा कम ही लोग थे जो साहित्य की दुनिया में रुचि लेते थे। जो लोग थे वे भी नियमित रूप से हिन्दी साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता के विकास में सहायक नहीं हो सके। भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्द के युग तक साहित्यकारों ने हमेशा यह दुःख प्रकट किया है कि उन्हें स्वतन्त्र लेखन से अपनी जीविका चलाने की सुविधा नहीं रही। स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी लिखकर अपने लिए जीवन की सामान्य सुविधा भी उपलब्ध नहीं हो पायी।

लेखक इतिहास के प्राध्यापक और विचारक हैं।
+919230511567
hittisaba@gmail.com

आलोचक जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है– ''हिन्दी में अधिकांश लेखक, लेखिकाएँ अपने निजी खर्च पर लेखन करते हैं, उनको कोई रॉयल्टी नहीं मिलती। जिन गिनती के लेखकों को रॉयल्टी मिलती है उससे वे अपने घर का एक महीने का भी खर्च नहीं निकाल सकते। यह स्थिति फिलहाल बदलती नजर नहीं आती। अधिकांश हिन्दी भाषी मध्यवर्ग के लोग पुस्तकें नहीं खरीदते। बहुत कम लोग पुस्तकें खरीदते हैं। इनके घर में पचीस-पचास किताबें नहीं मिलेंगी। ये लोग बुनियादी तौर पर पुस्तक और बुद्धिजीवी विरोधी हैं। इनके यहाँ सोने के गहने मिलेंगे पर किताब नहीं मिलेगी।''

कोलकाता की पत्रिका वागर्थ में मध्य वर्ग पर एक परिचर्चा में जवरीमल्ल पारख ने पिछले कुछ दशकों में मध्य वर्ग के नैतिक पतन की बात की है। क्या इन दोनों बातों में कोई सम्बन्ध है?

भारतीय भाषाओं से मध्यवर्ग का सम्बन्ध क्षेत्रीय सन्दर्भ में रखकर ही समझा जा सकता है। बंगाल के साथ हिन्दी को रखकर देखने से इस अन्तर को समझा जा सकता है। कोलकाता में पिछले डेढ़ सौ सालों में बांग्ला प्रकाशन ने बांग्ला के लेखकों को स्थानीय मध्य वर्ग के सहयोग से विकसित करने में सांस्थानिक आधार दिया। यह मोटे तौर पर कहा जा सकता है। टी.वी. के आगमन तक यह स्थिति बनी रही। उसके बाद भी साहित्य, सिनेमा, नाटक और पत्रकारिता सभी क्षेत्रों में स्थानीय बांग्ला भाषी मध्यवर्ग ने अपने लेखकों को बचे रहने में सहयोग किया। इतिहासकार राजशेखर बसु ने रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के अपने एक महत्त्वपूर्ण अभिभाषण में इस बात की व्याख्या करते हुए कहा कि बंगाली मानस ने 1940 के दशक से 1970 के दशक के बीच सिनेमा, साहित्य और अन्य क्षेत्रों में राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक जरूरतों को पूरा करने के लिए संकट से उबरने के लिए एक सांस्कृतिक परिवेश का विकास किया जिसमें एक ओर उत्तम कुमार और सुचित्रा सेन के प्रेम को सिनेमा के पर्दे पर देखकर उसे राहत मिली और दूसरी ओर मोहन बागान और ईस्ट बंगाल के बीच फुटबॉल मैच में उसे एक आनन्द मिला। इसके मूल में वे एक संकट को देखते हैं जिसने बंगाली मानस को उद्वेलित कर रखा था। बंगाल में राजनीतिक परिस्थितियाँ जिस तरह 1920 के बाद बदलीं उससे यहाँ का मध्य वर्ग बहुत परेशान रहा। स्वदेशी आन्दोलन के बाद से बंगाल भारतीय राजनीति में केन्द्र में रहने का अभ्यस्त था। इतिहासकार सब्यसाची भट्टाचार्य ने 1920 को बंगाल के इतिहास में एक निर्णायक वर्ष माना है। इसके बाद बंगाल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य केन्द्र नहीं रहा। महात्मा गाँधी इसे हिन्दी क्षेत्र में ले गये। इसके बाद बंगाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास का इतिहास क्षेत्रीय जातीयता के प्रभाव में रहा

बिना भारतीय जातीयता के विरोध किये। यह संकीर्ण नहीं हुआ और इसने अस्मिता को मूल बनाकर बंगाल जातीयता को भारतीय जातीयता (राष्ट्रीयता) से ऊपर कभी नहीं रखा। इस परिप्रेक्ष्य में बंगाल में तीन प्रकार की शक्तियाँ समानान्तर विकसित हुईं। एक आजादी को दूसरी रोटी को और तीसरी धर्म (हिन्दू और इस्लाम) को लेकर चलीं। बंगाल में ये तीनों शक्तियाँ किस तरह से एक साथ चलीं और इस आन्तरिक तनाव ने किस तरह मध्य वर्ग को तीन दिशाओं में धकेला इसकी पड़ताल इतिहास में कम हुई है लेकिन साहित्य और अखबारों के पन्नों में इसे स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

देखा जाये तो बंगाली मध्य वर्ग ने इस पूरे मामले में अपनी भूमिका का पालन किया। इस क्रम में देखने वाली बात यह है कि बांग्ला के मध्यवर्ग के प्रेरणा स्रोत रहे बंकिम, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, नजरुल, फजलूल हक, चित्तरंजन दास, सुभाषचन्द्र बोस, आशुतोष और श्यामाप्रसाद मुखर्जी। वामपन्थ की धारा को भी यथेष्ट सम्मान देना होगा हालाँकि इस धारा का विकास एक स्वतन्त्र धारा के रूप में चालीस के दशक के बाद ही हो सका। क्रान्तिकारी धारा और समाजवादी धाराओं की विभिन्न श्रेणियों के बीच जो तेज आवाजाही चालीस के दशक में हुई उसी के फलस्वरूप आजादी के बाद वामपन्थ की राजनीति ने पश्चिम बंगाल में अपना प्रभाव बनाया, यह बहुत स्पष्ट है। उनकी महत्ता है लेकिन तीस के दशक में अर्जित राजनीतिक बढ़त को 1942 के आन्दोलन का विरोध करके वाम ने अपनी साख खो दी। वह ट्रेड यूनियन और किसान संगठनों में शक्ति रखकर भी स्वराजी शक्ति (काँग्रेस) के मुकाबले में खड़ी नहीं रह सकी। आजादी के पूर्व और उसके बाद के वर्षों में बंगाल में एक तिकोना विचारधारात्मक राजनीतिक संघर्ष शुरू हुआ उसमें एक नारा यह था–'आजादी के लिए काँग्रेस और रोटी के लिए कम्युनिस्ट'।

दूसरी ओर धर्म की लड़ाई लड़ने वालों ने एक तरफ मुसलमान के लिए अलग राष्ट्र की माँग रखी और दूसरी तरफ किसी भी हाल में राष्ट्र को हिन्दू नेतृत्व के हवाले करने को जायज समझा। इस पूरी प्रक्रिया में बंगाल के बुद्धिजीवियों ने हर फ्रण्ट पर साहित्य का निर्माण किया। राजनीतिक संघर्ष के उस भीषण दौर में मध्यवर्ग की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण बनी रही। स्वदेशी आन्दोलन के पूर्व से ही बांग्ला में सचेतन पत्र-पत्रिकाओं का जो सिलसिला शुरू हुआ वह बाद में और शक्तिशाली हो गया।

इस पूरी प्रक्रिया में यह लक्षित किया जा सकता है कि राजनीतिक क्षेत्रों से साहित्यिक और सांस्कृतिक परिसरों का जुड़ाव यहाँ मध्यवर्ग के समर्थन के कारण बना रहा। यह किंचित आश्चर्य का विषय हो सकता है कि जब बांग्ला में कोई भ्रमण पर श्रेष्ठ किताब छपती थी तो उसके कवर पर और भीतर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत चन्द्र के साथ नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की भी एक गम्भीर टिप्पणी छपती थी। राजनीतिक क्षेत्र के समानान्तर साहित्यिक क्षेत्र का विकास भी होता है जिसे बचाये रखने के लिए मध्यवर्ग सामने आता है। रवीन्द्रनाथ का प्रभाव कितना विस्तृत था यह तो सब जानते ही हैं, शरत के बारे में भी यह कहना उचित है कि उनके साहित्य के इर्द-गिर्द एक बड़ा प्रयास मध्यवर्ग के लोगों द्वारा होता रहा। चालीस वर्ष के होने के बाद हर वर्ष शरत का जन्म-दिन बंगाल में विभिन्न स्थानों पर मनाया जाता था जिसमें उनके पाठक और उनको चाहने वाले जमा होते थे। आज भी शरत चन्द्र के नाम पर साहित्यिक मेले आयोजित होते हैं। साहित्यिक जगत के इन लोगों की आवाजों को पूरा शिक्षित समाज सुन सके इसके लिए पूरा तन्त्र काम करता था। इस तन्त्र के विकास का जिम्मा सरकार या किसी सेठ-साहूकार से अधिक मध्यवर्ग के ऊपर ही अधिक था। इसका लाभ यह हुआ कि पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार के साथ हजारों लोग नियमित जुड़े रहे। आज भी इसी संस्कृति के कारण बांग्ला में साहित्यकारों पर पत्रिकाओं के एक नहीं कई विशेषांक आते हैं।

हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता से राजनेताओं का जुड़ाव कम रहा। गाँधी जी के अलावा कम ही लोग थे जो साहित्य की दुनिया में रुचि लेते थे। जो लोग थे वे भी नियमित रूप से हिन्दी साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता के विकास में सहायक नहीं हो सके। भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्द के युग तक साहित्यकारों ने हमेशा यह दुःख प्रकट किया है कि उन्हें स्वतन्त्र लेखन से अपनी जीविका चलाने की सुविधा नहीं रही। स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी लिखकर अपने लिए जीवन की सामान्य सुविधा भी उपलब्ध नहीं हो पायी। आर्थिक तंगी को दूर करने के लिए वह मुम्बई गये और वहाँ फिल्मों के लिए लिखा ताकि कुछ हजार रुपये उन्हें मिल सकें। हिन्दी-जगत में उपन्यास सम्राट कहलाने वाले प्रेमचन्द के लिए इस तरह का आर्थिक संकट बतलाता है कि हिन्दी-जगत को मध्यवर्ग का समर्थन कितना कम मिला। बंगाल में ऐसा नहीं था रवीन्द्र नाथ और शरद चन्द्र की किताबें बिकती भी थीं और उसे खूब पढ़ा भी जाता था। इन दोनों के अलावा भी बहुत लेखक थे जो सामान्य जीवन लेखन के बूते जी सकते थे।

यह कहा जा सकता है कि बंगाल में मध्यवर्गीय संस्कृति में पुस्तकों और लेखकों के लिए एक विशेष स्थान लगातार बना रहा जिसके कारण सैकड़ो लेखकों ने विपुल लेखन किया और उन्हें आर्थिक संकटों का उतना सामना नहीं करना पड़ा जितना कि हिन्दी लेखकों को करना पड़ा। हिन्दी लेखकों को राज्याश्रय भी नहीं मिला। ले-देकर हिन्दी-प्रेमी सेठों पर ही उन्हें निर्भर रहना पड़ा। यह मानने में थोड़ा कष्ट हो सकता है कि हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता के विकास में सेठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कोलकाता के हिन्दी-जगत के बारे में लिखने वालों में कृष्णबिहारी मिश्र, शम्भुनाथ, कमेन्दु शिशिर और रूपा गुप्ता के अध्ययन तो यही बतलाते हैं कि सेठों की बड़ी भूमिका के कारण साहित्य का विकास हो सका। पाठकों की बूते अधिकतर लोकप्रिय लेखन के लोग ही टिक सके। हिन्दी के साहित्यिक और पत्रकारिता की जगत में उस तरह की मध्यवर्गीय पोषित संस्कृति का विकास हो ही नहीं सका। काँग्रेस का समर्थन हिन्दी को प्राप्त था लेकिन इसके बावजूद यही स्थिति रही। आजादी के बाद से 1977 के बीच के 30 वर्षों में हिन्दी के समुचित विकास की सम्भावना थी क्योंकि काँग्रेस की नीति हिन्दी के विकास के अनुकूल थी। यह एक भ्रम है कि नेहरू ने हिन्दी विरोधी रुख बनाये और हिन्दी को बढ़ाने में रुकावट डाली। काँग्रेस हिन्दी के पक्ष में रही लेकिन जो देश का एलिट था वह अँग्रेजी के पक्ष में रहा। 70 के दशक में जब हिन्दी के विकास को लेकर उधर मतभेद उभरे तो शिक्षामन्त्री रहे एम.सी. छागला और सुनीति कुमार चटर्जी जैसे लोगों ने अँग्रेजी बनाम हिन्दी के प्रश्न पर अँग्रेजी का पक्ष लिया। छागला ने तो हिन्दी को महत्त्व देने के विरोध में इस्तीफा ही दे दिया!

सरकार की नीति हिन्दी के पक्ष में थी लेकिन हिन्दी मध्यवर्ग ने अपनी भूमिका का निर्वहन नहीं किया इसके फलस्वरूप ही हिन्दी पिछड़ती रही और धीरे-धीरे उसने अँग्रेजी के पीछे चलने में ही अपनी भलाई समझी। दिनमान के सम्पादक के रूप में अज्ञेय की टिप्पणियों को इस सन्दर्भ में याद किया जा सकता है। यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि अपनी भाषा का जातीय स्वाभिमान हिन्दी लेखकों में भी उतना नहीं दिखता जितना कि बंगाली लेखकों में रहा है। अधिकांश बड़े हिन्दी साहित्यकारों के बच्चों ने हिन्दी में नहीं अँग्रेजी में पढ़ाई-लिखाई की। प्रेमचन्द से लेकर कैलाश वाजपेयी, शिवपूजन सहाय, भगवती चरण वर्मा, यशपाल आदि के घरों की भी यही कहानी रही। मध्यवर्गीय सांस्कृतिक संकुचन के कारण एक बात यह हुई कि हिन्दी धीरे-धीरे ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में फैलने के बजाय साहित्य की भाषा के रूप में ही अधिक विकसित हो सकी। पत्रकारिता और साहित्य की अच्छी समझ रखने वाले आलोक श्रीवास्तव का मानना है कि आजादी के पूर्व तक हिन्दी के साहित्य पर मिशनरी भाव से काम करते हुए लोगों की ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखों में सक्रियता रही लेकिन आजादी के बाद धीरे-धीरे अँग्रेजी को वरीयता दी जाने लगी और हिन्दी सिर्फ साहित्य की भाषा बनकर रह गयी। इस स्थिति के लिए कुछ हद तक नीति-निर्माताओं को दोष दिया जा सकता है लेकिन यदि मध्य-वर्ग की संस्कृति का विकास हुआ होता तो इस तरह हिन्दी सिर्फ साहित्य की भाषा बनकर नहीं रह जाती। इतिहास राजनीति शास्त्र, दर्शन और यहाँ तक की पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अँग्रेजी पुस्तक ही रेफरेंस बन गयी और हिन्दी की पुस्तकों को पढ़ने वाले सिर्फ वही लोग बने रहे जो अँग्रेजी किताबें पढ़ने में असमर्थ थे। इसके लिए दोष निश्चित रूप से मध्यवर्ग को दिया जाना चाहिए।

पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि हिन्दी प्रदेश के मध्य वर्ग ने 1984 के बाद से ही अपना असली रंग दिखाना शुरू किया। भूमण्डलीकरण के बाद तो वह खुले रूप में अँग्रेजी के पक्ष में आ गया। ऐसी कोशिशें भी हुईं की मनोरंजन और धार्मिक प्रवचन की भाषा भी अँग्रेजी हो जाये! हालाँकि इस तरह के प्रयास सफल नहीं हो सके। अन्त में हिन्दी प्रदेश के मध्यवर्ग के विमर्श में दो बातें गौर करने की हैं। प्रथम–यहाँ आधुनिकता का विकास पिछलग्गू आधुनिकता के रूप में ही हुआ। भीतर से मध्य वर्ग दकियानूसी और सामन्ती सोच का ही बना रहा। सिर्फ गाँव-देहात और कस्बे के गरीब और निम्न आयवालों के लिए ही हिन्दी सांस्कृतिक परिसर का महत्त्व रहा, बड़े शहरों में रहने वाले ऊपर वाले मध्यमवर्ग या जो उनकी तरह होना चाहते थे भले ही छोटे और मँझोले शहरों में रह रहे हों दोनों को हिन्दी से किनारा कर लेना ही ठीक लगा।

बंगाल में यह नहीं हुआ। अँग्रेजी के प्रति आकर्षण बंगाल में कम नहीं था, लेकिन इसके साथ ही एक सांस्कृतिक दायित्व-बोध बंगाली साहित्यिक समाज में हमेशा रहा है। मोटे तौर पर 1947 से लेकर 1990 तक बंगाल ने बंगाल की पत्र-पत्रिकाओं में ज्ञान-विज्ञान की भाषा के रूप में बांग्ला को महत्त्व दिया है। सत्यजित राय से लेकर अमर्त्य सेन ने बांग्ला भाषा में लिखने के महत्त्व को समझा और वे लगातार बांग्ला में लिखते रहे। रणजीत गुहा, सब्यसाची भट्टाचार्य, गौतम भद्र, पार्थ चटर्जी आदि विद्वानों ने बंगाल में विपुल लेखन किया है। आज भी मध्यवर्गीय समर्थन बंगाल में जितना अधिक है उसको समझने के लिए एक-दो उदाहरण ही काफी हैं। रणजीत गुहा के लेखों को दो खण्डों में एक बांग्ला प्रकाशक ने छापा। उसका मूल्य रुपये 2000 रखा गया। उसकी माँग इतनी रही कि इसकी प्रतियाँ बाजार में कुछ ही समय में अनुपलब्ध हो गयीं। इसकी सारी प्रतियाँ बिक गयीं और माँग बनी रही। रणजीत गुहा पर केन्द्रित एक अंक अनुष्टुप पत्रिका ने निकाला। इसमें एक हजार से ज्यादा पृष्ठ थे। एक-दो हफ्ते में ही हजारों प्रतियाँ बिक गयीं और इसको दुबारा छापना पड़ा। हिन्दी के पाठकों में यह राग दुर्लभ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत की हर भाषा में काम करने वालों पर भूमण्डलीकरण के आगमन के उपरान्त दबाव बढ़ा है। पहले टी.वी. ने और फिर सोशल मीडिया ने बहुत बुरा प्रभाव सभी भाषाओं पर डाला है। बंगाल में भी संकट है लेकिन हिन्दी के क्षेत्र में यह संकट बहुत ज्यादा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मध्यमवर्ग कुल मिलाकर विचारहीन दकियानूसी बना रहकर अपने समाज और भाषा के प्रति अपने दायित्व का पालन नहीं कर रहा है। उसको इस बात का इल्म कम है कि अँग्रेजी के सहारे सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में विकास सम्भव नहीं।

कोई कह सकता है कि हिन्दी प्रदेश में भी धर्मयुग, दिनमान, सारिका साप्ताहिक हिन्दुस्तान, माया, सरिता आदि पत्र-पत्रिकाएँ लाखों की संख्या में बिकती थीं। ध्यान देने की बात यह है कि लगभग सभी पत्रिकाएँ बड़े पूँजीवादी प्रतिष्ठानों से ही निकलती थीं। जिस दिन इन पूँजीवादी नियन्त्रित संस्थानों ने तय कर लिया कि वह हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं पर ध्यान नहीं देंगे सब कुछ इधर-उधर हो गया। आज जो भी हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ हैं लगभग सभी अँग्रेजी के अनुवाद के रूप में ही हैं। अन्य प्रयासों को बहुत आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पाठकों का समर्थन किसी-किसी पत्र-पत्रिका को ही उपलब्ध हो तो हो।

ऐसी स्थिति में क्या यह कहना ठीक नहीं होगा कि हिन्दी प्रदेशों के मध्य वर्ग ने अगर ध्यान दिया होता जैसा कि बांग्ला या कई अन्य भाषाओं के मध्य वर्ग ने अपनी भाषा ही संस्कृति को बचाने की कोशिश की है तो हिन्दी में इतनी बुरी स्थिति नहीं होती। देखा जाये तो हिन्दी के लिए स्थिति सबसे अनुकूल है। बाजार और सरकारी नीति दोनों हिन्दी के पक्ष में हैं। दिक्कत मध्य वर्ग के सांस्कृतिक पिछड़ेपन को लेकर ही है। आज गौर करें कि कुम्भ के मेले में जाने वाले लोगों में अधिकतर लोग जो पच्चीस से पचास हजार रुपये प्रतिदिन देकर टैण्ट बुकिंग कर रहे हैं उसमें व्यवसाय करने वाले ग्रुपों–गुजराती, मारवाड़ी आदि के बाद सबसे अधिक समर्थ लोग हिन्दी प्रदेश के ही होंगे। बंगाल के कम ही होंगे।

मानने में कष्ट होता है लेकिन सच शायद यही है कि हिन्दी प्रदेश का मध्यवर्ग सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा है। अफसरी करके, राजनीति करके या कुछ भी करके वह खर्च करके अपनी आर्थिक स्थिति भले ही अच्छी कर ले अभी उसके सांस्कृतिक रूप से बंगाल के मध्यवर्ग के समकक्ष बनने की कोई सम्भावना नहीं दिखती। हिन्दी प्रदेश के मध्यवर्ग के अहंकार को चुनौती देना जरूरी है। उसका दायित्व बहुत बड़ा था। 2025 से यह काम शुरू हो जाना चाहिए।

■

जरूरी है कि लहू आँख से टपके

प्रियदर्शन

हिन्दी में पुरानी छन्दोबद्धता से मुक्त होकर एक नया विधान खोजती यह कविता जब आगे बढ़ती है तो और ज्यादा आभरण रहित हो उठती है। कविता उदात्त भावना से सहज संवेदना की ओर आती है और फिर मानवीय आवाज में बदल जाती है। उसमें एक गहन विचारशीलता भी दिखने लगती है। रघुवीर सहाय जैसे कवि हमें इसी मोड़ पर कहीं मिलते हैं। वे अचानक कविता से कुछ और काम लेने लगते हैं। वह 'आने वाला खतरा' पहचानते हैं।

लेखक कवि, कथाकार एवं एनडीटीवी में वरिष्ठ कार्यकारी सम्पादक हैं।
+919811901398
priyadarshan.parag@gmail.com

इसमें सन्देह नहीं कि जो छन्दोबद्ध कविताएँ हैं या जिन विधाओं में छन्द, लय या तुक सुरक्षित हैं, उन्हें याद रखना आसान होता है। इन कविताओं का पाठ भी छन्दमुक्त कविताओं के मुकाबले आकर्षक होता है, क्योंकि उसका अपना एक रूप स्थिर होता है और वह सहज सम्प्रेषणीय होता है। फिर इन्हें गीतों की तरह गाया जा सकता है। बल्कि हिन्दी में छन्दोबद्ध कविता अब गीत या नवगीत जैसे सम्बोधनों से ही जानी जाती है। उर्दू की शेरो-शायरी और गजलें भी अपने अनुशासन के चलते आसानी से पढ़ी और याद रखी जा सकती हैं। उर्दू की नज्में कम लोगों को याद रहती हैं–हालाँकि वे लय के प्रति हिन्दी कवियों के मुकाबले ज्यादा वफादारी दिखाती हैं।

बहुत सारे लोग कविता की घटती लोकप्रियता की एक वजह यह भी बताते हैं कि उसने छन्द से नाता तोड़ लिया। गजलें अब भी पढ़ी जाती हैं क्योंकि उनका मीटर से वास्ता है। हिन्दी की सरल और सम्प्रेषणीय कविताओं के मुकाबले प्रसाद, निराला और महादेवी की वे कविताएँ लोगों को याद रहती हैं जो भले ही बहुत तत्सम शब्दावली में हों, लेकिन एक आकर्षक और गेय छन्द-योजना में ढली हों। दिनकर, बच्चन या दुष्यन्त कुमार अगर हिन्दी के सबसे ज्यादा याद रखे जाने वाले कवियों में हैं तो इसलिए कि उन्होंने छन्द में लिखा है।

तो क्या छन्द की अवहेलना करके हिन्दी कविता ने अपना नुकसान किया है? या बदलते हुए दौर और साहित्य की बदलती हुई समझ के बीच कविता की यह अपरिहार्य नियति थी कि वह अपने चमकते हुए आवरण उतारे और बिल्कुल सहज भाव से लोगों के सामने आये? लेकिन फिर वह गद्य से किस तरह अलग है?

ये वे असुविधाजनक सवाल हैं जो गाहे-बगाहे हिन्दी के कवियों के सामने आते रहे हैं–इस अतिरिक्त आरोप के साथ कि नये दौर के कवियों से छन्द सधता नहीं, उनसे पुराने कवियों जैसी मेहनत होती नहीं, इसलिए वे छन्दमुक्त कविता का आसान रास्ता अपनाते हैं जिसमें बस अपने भाव लिख देने हैं।

लेकिन छन्दोबद्ध कविता भले अच्छी लगती हो, वह आज की कविता नहीं है। जैसे पुराने महलों के भव्य स्थापत्य लुभाते हैं, उसी तरह महाकाव्यों का उदात्त स्वरूप आकर्षित करता है, लेकिन इस महलनुमा संरचना में कविता का वह घर नहीं बनता, जिसमें आज रहा जा सके। यह सच है कि पुरानी गीतात्मकता को छोड़ते हुए कई कवियों ने छन्द में भी अपनी तरह के प्रयोग किये हैं जो बिल्कुल आधुनिक जान पड़ते हैं। 'गीतफरोश' लिखने वाले भवानी प्रसाद मिश्र जब लिखते हैं–*''मैं जो हूँ/ मुझे वही रहना चाहिए/ मुझे अपना होना / ठीक-ठीक सहना चाहिए / तपना चाहिए/ अगर लोहा हूँ/ तो हल बनने के लिए/ बीज हूँ/ तो गड़ना चाहिए/ फल बनने के लिए''*–तो वे न पुरानी छन्द-योजना का सहारा लेते हैं न किसी गीतात्मकता के मोह

में पड़ते हैं–बस वे एक तरह की लय बचाये रखते हैं जिसमें तुक की मदद शामिल है। बाद में श्रीकान्त वर्मा भी इस युक्ति को कुछ अलग करके आजमाते दिखाई पड़ते हैं। उनके संग्रह 'माया दर्पण' की बहुत सारी कविताएँ ऐसी हैं जो अपनी अप्रत्याशित लयात्मकता और शब्द-योजना में पाठक को लगभग चौंकाती हैं– *''जो मुझसे हुआ नहीं / वह मेरा संसार नहीं / कोई लाचार नहीं / जो वह नहीं है वह होने को / मैं गौर से सुन सकता हूँ / औरों के रोने को / मगर दूसरों के दुख को / अपना मानने की बहुत / कोशिश की; नहीं हुआ / मेरे और औरों के बीच / एक सीमा थी / जिसे मैंने छलने की कोशिश में /औरों की शर्तों पर प्रेम किया।''*

इन दो उद्धरणों को यहाँ रखने का मकसद सिर्फ यह बताना नहीं है कि किस तरह हिन्दी कवि छन्द-योजना को बदलकर एक अलग तरह की लयात्मकता सम्भव कर रहे थे, बल्कि यह भी है कि वे कविता में 'अपने होने' के सवाल से जूझते हुए एक नयी तरह की काव्यभाषा निर्मित कर रहे थे। यह अनायास नहीं है कि बाद के वर्षों में श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संसार में एक गहरी तल्लीनता का अनुभव होता है–उसमें बेचैनी भी दिखती है तो बहुत सघन और चुप्पी के बीच रची जाती हुई। 'मगध' की कविताएँ इस सघन चुप्पी के कई साक्ष्य सुलभ कराती हैं।

लय और तुक का यह विधान बनाने वाले जिस तीसरे विलक्षण कवि की सहसा याद आती है–वह धूमिल हैं। धूमिल की कविता किसी विस्फोट की तरह आती है–यह विस्फोट भी बिल्कुल शृंखलाबद्ध है–एक 'पटकथा' ले जाता हुआ। उसमें गीतात्मकता बिल्कुल नहीं है, लेकिन लय और तुक है। उन जैसा कवि ही लिख सकता है– *''दुखी मत हो। / यह मेरी नियति है / मैं हिन्दुस्तान हूँ / जब भी मैंने / उन्हें उजाले से जोड़ा है / उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है / इसी तरह तोड़ा है / मगर समय गवाह है कि मेरी बेचैनी के आगे भी राह है।''*

मुक्तिबोध के 'अन्धेरे में' के साथ अगर धूमिल की पटकथा को मिलाकर पढ़ें तो नेहरू युग में बन रही बेचैनी और टूट रही उम्मीद, भारतीय मध्य वर्ग के पाखण्ड और एक देश के मोहभंग को पढ़ना कुछ आसान हो जाता है। मुक्तिबोध में जहाँ इस दौर की अन्तर्निहित वेदना मिलती है, वहीं धूमिल की कविता एक लम्बी चीख की तरह सामने आती है।

धूमिल और मुक्तिबोध दोनों बहुत दिन नहीं जी सके। धूमिल को तो बहुत कम उम्र मिली–40 साल से भी कम की। अन्यथा यह देखना सम्भव होता कि आने वाले दिनों में उनकी कविता में दिखने वाला यह वैचारिक विस्फोट कैसी शक्ल अख्तियार करता है और अपने लिए कैसी काव्य-भाषा गढ़ता है।

बहरहाल, हिन्दी में पुरानी छन्दोबद्धता से मुक्त होकर एक नया विधान खोजती यह कविता जब आगे बढ़ती है तो और ज्यादा आभरण रहित हो उठती है। कविता उदात्त भावना से सहज संवेदना की ओर आती है और फिर मानवीय आवाज में बदल जाती है। उसमें एक गहन विचारशीलता भी दिखने लगती है। रघुवीर सहाय जैसे कवि हमें इसी मोड़ पर कहीं मिलते हैं। वे अचानक कविता से कुछ और काम लेने लगते हैं। वह 'आने वाला खतरा' पहचानते हैं और लिखते हैं– *''इस लज्जित और पराजित युग में / कहीं से ले आओ वह दिमाग / जो खुशामद आदतन नहीं करता / कहीं से ले आओ निर्धनता / जो अपने बदले में कुछ नहीं माँगती /और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो / जल्दी कर डालो कि फलने-फूलनेवाले हैं लोग / औरतें पिएँगी आदमी खाएँगे–रमेश / एक दिन इसी तरह आएगा– रमेश / कि किसी की कोई राय न रह जाएगी–रमेश / क्रोध होगा पर विरोध न होगा / अर्जियों के सिवाय– रमेश / खतरा होगा खतरे की घण्टी होगी / और उसे बादशाह बजाएगा–रमेश''।*

यह एक बदली हुई कविता है। यह वह कविता नहीं है जिस पर मुग्ध होकर हम उसे याद करना और दुहराना चाहें। लेकिन यह कविता परेशान करती है। वह हमारी नसों में गड़ी रहती है–हमें बताती हुई कि दरअसल यह हमारी ही कविता है–हमारा वह सत्य जिससे हम आँख चुरा रहे हैं। बेशक, धीरे-धीरे यह कविता याद भी रह जाती है। निस्सन्देह यह कविता एक प्रबुद्ध पाठक की अपेक्षा करती है और प्रबुद्धता का मतलब बहुत सारी किताबें पढ़ने वाला नहीं, बल्कि अपने समय को संवेदनशील निगाह से देखने और समझने की कोशिश करने वाला पाठक है।

दरअसल समझने की जरूरत यही है। पुरानी कविता बहुत कुछ उपभोग के सामान की तरह इस्तेमाल की जा रही है–तरह-तरह के 'रस' और वेदना के आलंकारिक रूपों में ढली हुई। बेशक, वह भी हमें प्रेरित करती है, ऊर्जा देती है–लेकिन जो बिल्कुल नयी कविता है–वह हमारी अस्थि-मज्जा में बसी हुई है। श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय या बाद के दौर में मंगलेश डबराल, विष्णु नागर या वीरेन डंगवाल जैसे कवि जिस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं और जिसमें बाद में अनामिका, देवी प्रसाद मिश्र, गगन गिल, कात्यायनी और कुमार अम्बुज जैसी कड़ियाँ जुड़ती हैं–वह दरअसल कविता को संवेदना की और भी सम्भव तहों तक ले जाने की कोशिश का विस्तार है।

मुश्किल यह है कि जब हम छन्दोबद्ध कविता की बात करते हैं तो सीधे-सीधे उसे नयी कविता के विरोध में खड़ा कर दिया जाता है, या नयी कविता की बात करते हैं तो लगता है कि उस पुरानी परम्परा को हम खारिज कर रहे हैं, जबकि सच यह है कि अच्छी कविता छन्द या मीटर में भी सम्भव है और उसके बाहर भी। मीर और गालिब जैसे शायर आज भी हमें आधुनिक लगते हैं तो इसलिए कि शेर के वजन और गजल की शर्तों को ठीक से बनाये रखने के बावजूद अन्ततः वे कुछ ऐसा कह जाते हैं जो हमें अपना और अपने समय का सुराग देता मालूम पड़ता है। तो असली बात यह है कि हम कहना क्या चाहते हैं–उसी से तय होता है कि हम उस बात को किस तरह कह सकते हैं। फिर इस बात से भी फर्क पड़ता है कि जो भी हम कहते हैं–उसे कितनी गहराई से खुद महसूस करते हैं। गालिब का जिक्र आ ही गया है तो उनका शेर भी याद किया जा सकता है– *''रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं कायल / जो आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।''*

तो छन्द में टपके या छन्द से बाहर–असली बात यह है कि लहू आँख से टपकना चाहिए। नहीं तो जिस भी विधा में लिखेंगे, हम एक कृत्रिम और भावहीन रचना ही कर पाएँगे।

■

भारतीय भाषा-दर्शन का नव-विकास

विनोद शाही

भाषा के माध्यम से गुजरकर हम तक पहुँचते-पहुँचते, वस्तु के बिम्ब में जो विक्षेप पैदा होता है, उसे यथासम्भव हटाना पड़ता है। जैसे जल या काँच से होकर गुजरते हुए, वस्तु के बिम्ब में थोड़ा फर्क पड़ जाता है, वही स्थिति भाषा की भी है। कितनी निर्दोष क्यों न हो, भाषा हमें वस्तु तक सीधे नहीं ले जा पाती। फिर जब हम वस्तु तक पहुँचते भी हैं, हमारा अनुभव-संसार, हमारे और उस वस्तु के दरम्यान आकर खड़ा हो जाता है।

लेखक हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक हैं।
+919814658098
drvinodshahi@gmail.com

अगर हम यह जानना चाहते हैं कि भाषा क्या करती है, तो हमें भाषा-विज्ञान के पास जाना पड़ता है। परन्तु यदि हम यह जानना चाहते हैं कि भाषा क्या होती है, तो हमें भाषा-दर्शन की ओर रुख करना होगा। हमारा दौर भाषा के प्रकार्य-मूलक (फंक्शनल) पक्ष पर इतना अधिक केन्द्रित हो गया है कि भाषा के स्वरूप पर विचार-पुनर्विचार का काम जैसे गैर-जरूरी-सा होकर रह गया है। यह स्थिति चिन्ताजनक है।

भाषा के स्वरूप को ठीक से समझने के अभाव में मानव-जाति अनेक तरह की समस्याओं से घिरती जा रही है। एक बड़ी समस्या भाषा के अर्थ-संसार के अराजक हो जाने की है। भाषा बहुत से अर्थों का सृजन करने लगी है। परन्तु उसी अनुपात में वह समाज के सामूहिक चित्त को भरमाने की हेतु भी होती जा रही है। ऐसे में भाषा के स्वरूप पर विचार-पुनर्विचार जरूरी हो जाता है। ऐसा करने से भाषा के उन पक्षों पर मानव-जाति का ध्यान जा सकता है, जिनका सम्बन्ध मानव-चित्त की बुनियादी संरचनाओं से होता है। उस ओर ध्यान न देने की वजह से भाषा सूचनाओं के आदान-प्रदान का उपकरण मात्र होकर रह जाती है। फिर उससे मानव के चित्त को भरमाने का काम भी लिया जाने लगता है। हमारे दौर में सूचना-क्रान्ति के बहाने से भाषा के वे रूप नुमायाँ हो गये हैं जिनकी व्यावसायिक या व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगिता है।

भाषा के उपयोगी होने की बात सामाजिक दृष्टि से बेहद अहम् है। परन्तु विशुद्ध सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा का वह रूप भी अर्थपूर्ण है, जो मनुष्य को उसके खुद के करीब हो सकने में मदद करता है। इस तरह हमारे दौर में भाषा की दुनिया, मनुष्य के बाहर के 'अन्य' तथा भीतर के 'स्व' की जरूरतों के बीच विभाजित दुनिया का अक्स हो गयी है। यही वजह है कि समय रहते हमें भाषा-विज्ञान के सह-समान्तर भाषा के दर्शन की ओर भी रुख करना पड़ेगा। भाषा के साथ हमें मनुष्य के चित्त की उन संरचनाओं में उतरना पड़ेगा, जो हमारे अस्तित्व के कुदरती पहलुओं से ताल्लुक रखती हैं। कुदरत से अपने रिश्ते को फिर से नये अर्थ में खोजे बिना हम सभ्यता के जंगल में सदा के लिए भटकते रह जाएँगे। स्वयं को बाहरी और आन्तरिक प्रकृति के समन्वय के माध्यम से नये रूप में पाए बिना, हमारी मुक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए जरूरी है कि अब भाषा-दर्शन के बुनियादी सवालों की ओर पुनर्विचार की गहन प्रक्रिया को फिर से आरम्भ किया जाये।

भाषा का समाज-सांस्कृतिक पक्ष, सामान्यतया अनुकरणात्मक होता है। वह भाषा का ऐसा रूप होता है, जिसे 'सीखा-पढ़ा' जाता है। वह भाषा हमें विरासत में मिलती है। उसमें बहिरंग की ही नहीं, अन्तरंग की बाबत भी तमाम तरह की सूचनाएँ रहती हैं। वे हम तक तथ्यपरक जानकारियों की तरह पहुँचती हैं। उसे जैक

लाकां हमारे 'स्व' का 'महा-अन्य' कहता है। वहाँ यह पूरा विश्व, भाषा के प्रतीकार्थ की तरह पड़ा होता है। वह भाषा हमें किसी अन्य से मिलने और उससे संवाद रचाने के अवसर और सम्भावना की तरह मिलती है। उसका बहुत थोड़ा-सा हिस्सा ही आखिरकार हमारा अपना हो पाता है।

भाषा का वह जो हमेशा अपना हो पाता है, उसे हम अपने 'स्व' की तरह पाते हैं। पर वह भी हमारे वास्तविक स्व तक पहुँचने की एक कुंजी-भर होता है। वह जो हमारा स्व है, वह इस उपलब्ध और 'सीखी-पढ़ी' गयी भाषा के समान्तर, एक अन्य भाषा से लिपटा, वहाँ पीछे पड़ा होता है। भाषा के इस भीतरी संसार को हम अन्तर्भाषा कह सकते हैं।

सभी मनुष्य हर वक्त, चौबीसों घण्टे, सोते-जागते, अपनी इस अन्तर्भाषा की तरह खुद को व्यक्त होता देखते हैं। इसे हम मन में अनवरत चलने वाले भावों-विचारों के सिलसिलों की तरह देखते-पाते हैं। यह अन्तर्भाषा, एक अलग तरह की भाषा जैसी होती है। उसमें वाक् और अर्थ के बीच फासला तो होता है, पर उतना नहीं, जितना कि सीखी-पढ़ी भाषा में दिखाई देता है। इसलिए सीखी-पढ़ी भाषा के प्रतीकार्थों को भेदकर हमें उसके पीछे मौजूद 'वस्तु' तक पहुँचना पड़ता है। इसलिए लगने लगता है कि भाषा का वस्तु से रिश्ता दूरागत है। जैसे भाषा वस्तु की ओर इशारा करने वाला कोई उपकरण-भर हो। तो हमें उस दूरी की व्याख्या करनी पड़ती है। भाषा के माध्यम से गुजरकर हम तक पहुँचते-पहुँचते, वस्तु के बिम्ब में जो विक्षेप पैदा होता है, उसे यथासम्भव हटाना पड़ता है। जैसे जल या काँच से होकर गुजरते हुए, वस्तु के बिम्ब में थोड़ा फर्क पड़ जाता है, वही स्थिति भाषा की भी है। कितनी निर्दोष क्यों न हो, भाषा हमें वस्तु तक सीधे नहीं ले जा पाती। फिर जब हम वस्तु तक पहुँचते भी हैं, हमारा अनुभव-संसार, हमारे और उस वस्तु के दरम्यान आकर खड़ा हो जाता है। पूर्वानुभव, प्रस्तुत अनुभवों को अपने साँचे में ढालने को जैसे तैयार बैठे होते हैं।

ये जो पूर्वानुभव हैं, उन्हें परे हटाना कठिन होता है। उनमें हमारा 'स्व' ही, अंशतः अभिव्यक्त होता है। उनकी पूरी अन्तस्संरचना, हमारी अन्तर्भाषा के महीन जाल की तरह बुनी-रची गयी होती है। अन्तर्भाषा के रूप में हमारे पास जो भाषा होती है, वह हमारी 'अधिक अपनी' होती है। वह हमारे भावों-विचारों से ही नहीं, अन्य बहुत-सी चेतन-अचेतन प्रक्रियाओं से भी ताल्लुक रखती है। अन्तर्भाषा में जैसे हमारा एक पूरा संसार छिपा रहता है। रात-दिन अन्तर्भाषा में बोलते रहने से हम उससे इतने ग्रस्त हो चुके होते हैं कि उसकी चेतन-अचेतन उपस्थिति ही हर समय और हर जगह, हमें 'हमारे होने' का बोध कराने लगती है। उसके महीन ताने-पेटे में हमारे भाव और विचार ही नहीं, स्मृतियों और संस्कारों के बहुत से सिलसिले भी गुँथे होते हैं।

फिर एक और भाषा भी होती है, जो अचेतन रूप में उसकी हर वक्त पुनर्रचना करती रहती है। इसे हम स्वप्न-भाषा कह सकते हैं। सच पूछो तो हमारी इस अन्तर्भाषा का भी वह जो अन्तरंग है, वह स्वप्न-भाषा में व्यक्त होता है। उसे हम वैकल्पिक भाषा भी कह सकते हैं। हमारे सोते ही वह भाषा हम पर हावी हो जाती है। वह इतनी शक्तिशाली भाषा है कि एक दफा हमारी आँख बन्द हुई नहीं, वह हमें इस तरह पकड़ और जकड़ लेती है कि सीखी-पढ़ी जागृत भाषा जैसे हमें करीब-करीब भूल ही जाती है। तब हम चाहकर भी अपनी उस भाषा से कोई काम नहीं ले पाते। स्वप्न-भाषा वाला यह रूप इतना शक्तिशाली इसलिए होता है, क्योंकि वहाँ हमारे और वस्तु के बीच का फासला करीब-करीब गिर ही जाता है। हम अन्यों जैसे और अन्य हम जैसे होने लगते हैं। पर जैसे ही वह अन्य हम पर इस कदर हावी होता है कि हम अपनी तरह मिट ही जाने को होते हैं, हम डर जाते हैं। हम खुद को किसी तरह बचाकर अपनी उसी जानी-पहचानी दुनिया में लौट आते हैं, जहाँ हम दूसरों से अलहदगी में ही सही, पर खुद की तरह 'हो' तो सकते हैं।

इसलिए हम अपनी अन्तर्भाषा की तुलना में सीखी-पढ़ी भाषा को अधिक अहमीयत देने लगते हैं। पर स्वप्न-भाषा, विकल्प-भाषा की तरह हर वक्त, हमारे हर भाषागत अनुभव में हमारे साथ बनी रहती है। उसे हम 'कल्पना की भाषा भी' कह सकते हैं। जब सीखी-पढ़ी भाषा का सूचनात्मक और तथ्यपरक संसार हमें चारों तरफ से इतना घेर लेता है कि हमें लगता है कि हमने खुद को ही खो दिया है, कल्पना की भाषा हमारी मुक्तिदायिनी हो जाती है। वह हमें सीखी-पढ़ी भाषा के संसार से उबारकर, फिर से हमारी अन्तर्भाषा के संसार में लौटा ले जाती है।

रचनात्मक साहित्य का जो इतना विपुल भाषा-संसार है, उसे हमने इसी विकल्प-भाषा में लौट सकने की सम्भावना को बनाये-बचाये रखने के लिए सृजित किया है। रचनात्मक साहित्य की भाषा, मानव-जाति के द्वारा खोजी गयी, अब तक की ऐसी समर्थतम भाषा है, जिसमें सीखी-पढ़ी भाषा और अन्तर्भाषा से ताल्लुक रखने वाली स्वप्न-भाषा, दोनों के बीच एक ताल-मेल बनाना, सन्तुलन साधना, मुमकिन होता है। इसीलिए हमारे पास अब तक के जितने महान भाषा-दार्शनिक हुए हैं, उन्होंने भाषा-विज्ञान के साथ-साथ साहित्य-चिन्तन के मौलिक अन्तर्विकास में भी बड़ी भूमिका निभायी है।

तथापि भाषा-दर्शन का काम सीखी-पढ़ी भाषा, अन्तर्भाषा, स्वप्न-भाषा और साहित्य की भाषा के विवेचन-विश्लेषण तक ही सीमित नहीं होता। वह उससे भी आगे, एक कदम और बढ़ाकर वहाँ पहुँचता है, जहाँ वह भाषा के कुदरती रूपों की व्याख्या करने लायक हो सकता है। पर भाषा के उस कुदरती रूप तक पहुँचने वाले बहुत कम दार्शनिक ही हमारे पास हैं। और जो हैं भी, उनके अवदान को भी अभी तक ठीक से समझने और मूल्यांकित करने का काम नहीं हो सका है। इस कुदरती भाषा को हम भाषा की आद्य-परत कह सकते हैं।

अपने उद्भव काल में भाषा और वस्तु के बीच कम-से-कम फासला होता है। दूसरी बात यह है कि उसमें भाषा का जैव-गुणसूत्रीय पक्ष सर्वाधिक मुखर होता है। ध्वनि का वह जो नादात्मक संसार है, वह सभी वस्तुओं के भीतर से यकसां मुखरित होता है। उसे हम प्रकृति का अविभाज्य

अन्तर्जगत भी कह सकते हैं। उस आधार पर हमारे यहाँ भाषा का आरम्भिक दर्शन, वाक् के विविध स्तरों के विवेचन का रूप ले लेता है। फिर वह वाक्, हमारे कण्ठ, जीभ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि के अवरोध से भिन्न-भिन्न ध्वनियों का रूप ले लेता है। उससे वह वाक् स्वर, व्यंजन आदि रूपों में अन्तर्विभाजित हो जाता है।

इस तरह भाषा का व्यक्त रूप, अनेक ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों आदि की विपुल संरचनाओं और व्यवस्थाओं के रूप में, एक विविधतापूर्ण संसार की रचना करता है। पर हमारी देह के विविध केन्द्र, अपनी कुदरती भाषा में मुखरित होने के लिए, आद्य-वाक् से अपना रिश्ता बनाये रखते हैं। इसे प्रतीक रूप में पार्वती की देह के अनुकरण में बनायी गयी आद्य-वीणा कहा गया। उसकी गुंजार, देह के ही विविध केन्द्रों के नाद के सुरों में विभाजित होती है।

फिर उसी देह-वीणा का लघु-रूप मानव-जिह्वा की तरह हमारे सामने उपस्थित होता है। उसके कण्ठ्य, तालव्य, दन्त्य, ओष्ठ्य आदि अवरोध और आरोह-अवरोह, वाक् के श्रव्य और सम्प्रेषणीय रूपों को प्रकट करते हैं। इस तरह वाक्, हमारी स्वरूपगत प्राकृतिक अभिव्यक्ति से लेकर हमारी दैहिक-जैविक भाषा तक का आधार-स्रोत और जागतिक प्रतिरूप, दोनों हो जाता है।

वाक्, गहरे में, हमारे चित्त और आत्मा (या चेतना) का उपकरण है। कुदरती भाषा के नुक्ते-निगाह से, चित्त और चेतना–दोनों ऐन्द्रीय देह के सूक्ष्म और कारण रूपों के अन्तस्संघटन हैं। कुदरती भाषा में देह अपनी समग्रता में मुखरित होती है। उसका प्रयोजन है–सृष्टि में व्याप्त नाद-भाषा से अपना रिश्ता जोड़ना। इसे हमारे संस्कृत आचार्यों ने भाषा का 'नित्य रूप' कहा। वह 'स्फोट' की तरह वाक् में अर्थ बनकर आलोकित होता है। नाद-भाषा को वहाँ 'परा-वाक्' के रूप में भाषा के गहनतम आयाम की तरह प्रतिष्ठित किया गया।

तथापि यह पूरा विवेचन, पश्चिमी भाषा-दर्शन के नुक्ते-निगाह से बोधगम्य नहीं है। इसे भारतीय भाषा-दर्शन का 'रहस्य-चिन्तन' कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है। हालाँकि अब सृष्टि-नाद पर वैज्ञानिक शोध आरम्भ हो गया है। तो कुछ पश्चिमी चिन्तक अब 'साउण्ड एज मीनिंग' की बात करने लगे हैं। साइबरनेटिक्स में अन्तर्भाषा पर भी वैज्ञानिक शोध आरम्भ हो गये हैं। इससे भाषा-दर्शन की परम्परागत तस्वीर थोड़ी बदल रही है।

वैसे पश्चिमी भाषा-दर्शनशास्त्री उन दिशाओं में आगे और अधिक काम करने की जरूरत महसूस कर रहे हैं, जिन पर हमारे यहाँ अतीत में काफी काम हो चुका है। तथापि उनमें एक हिचकिचाहट जरूर है, जो उनकी हमारे बारे में अपर्याप्त जानकारी और समझ का नतीजा है। कुछ कारण पश्चिमी प्राच्यवादी नुक्ते-निगाह से भी ताल्लुक रखते हैं। स्वयं को विश्व का अग्रणी मानने की वह जो आधुनिक-कुण्ठा है, वह औपनिवेशिक दौर के बीत जाने पर भी अभी गयी नहीं है। इस सन्दर्भ में हमारे दौर के एक महत्त्वपूर्ण भाषा-चिन्तक मैलकॉम कीटिंग की यह निम्नोक्त साफगोई, उनकी ज्ञान-निष्ठा और ईमानदारी की परिचायक लगती है–

''बी के मतिलाल की पुस्तकों और साठ के दशक में उपलब्ध विचारों से लगता है कि रसेल और फ्रीज के पहले आंग्ल-भाषा के दार्शनिकों के पास वे स्रोत उपलब्ध थे, जिससे वे जान सके कि भारतीय दार्शनिक (संस्कृत) भाषा में परिष्कृत कार्य करते रहे हैं।''

''मुझे लगता है कि खुले दिमाग से और परिप्रेक्ष्य के बदलाव के लिए तैयार रहने से, भारतीय विचारकों के बारे में अध्ययन करने पर, दार्शनिकों को उनके मन में बसे प्रश्नों के, साथ ही उन नये प्रश्नों के, जो उन्हें ज्यादा परेशान कर रहे हैं, उत्तर मिल जाएँगे। और मुझे यह भी लगता है कि दर्शनशास्त्र का विस्तार से सिर्फ वैचारिक विशिष्टाओं के साथ नहीं, बल्कि ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से अध्ययन करने पर और भी संसाधन मिल सकते हैं।''

(रिचर्ड मार्शल को दिये गये साक्षात्कार के अंश)

यहाँ कीटिंग स्पष्ट करते हैं कि पश्चिमी चिन्तकों को भारतीय दार्शनिकों को खुले दिलो-दिमाग से पढ़ने की जरूरत है। इससे वे कुछ नये जरूरी सवालों से मुखातिब हो सकते हैं। हालाँकि एक अन्य जगह वे ये भी कहते हैं कि भारतीय दर्शन उन्हें अपने सवालों के जवाब खोजने में अधिक मदद नहीं करता, पर कुछ नये क्षेत्रों और दिशाओं को जरूर खोलता है। इस दुविधा की वजह स्पष्ट है। पश्चिम की दिलचस्पी भाषा के बाह्य और प्रयोजनमूलक पक्षों में अधिक है, जबकि भारतीय चिन्तक भाषा के अन्दरूनी ढाँचे की व्याख्या में अधिक दिलचस्पी रखते हैं। तथापि उम्मीद की जा सकती है कि साइबरनेटिक्स की मदद से अन्तर्भाषा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक समझ और बढ़ेगी। और वह जितनी बढ़ेगी, उतना ही हम भारतीय और पश्चिमी भाषा-चिन्तन को एक-दूसरे के करीब आता भी पाएँगे।

ऐसे में अब हमें अपने परम्परागत भाषा-दर्शन के पुनर्पाठ और नव्य-पाठ पर गम्भीरता से काम करना आरम्भ करना होगा। पश्चिमी चिन्तकों के लिए वह अजनबी हो सकता है, पर वह सब जो हमारे अपने दार्शनिकों ने खोजा, पाया और कहा है, वह कम-अज-कम हमारे लिए तो न 'ग्रीक' है, न 'फारसी'। ■

रचनात्मक साहित्य का जो इतना विपुल भाषा-संसार है, उसे हमने इसी विकल्प-भाषा में लौट सकने की सम्भावना को बनाये-बचाये रखने के लिए सृजित किया है। रचनात्मक साहित्य की भाषा, मानव-जाति के द्वारा खोजी गयी, अब तक की ऐसी समर्थतम भाषा है, जिसमें सीखी-पढ़ी भाषा और अन्तर्भाषा से ताल्लुक रखने वाली स्वप्न-भाषा, दोनों के बीच एक ताल-मेल बनाना, सन्तुलन साधना, मुमकिन होता है। इसीलिए हमारे पास अब तक के जितने महान भाषा-दार्शनिक हुए हैं, उन्होंने भाषा-विज्ञान के साथ-साथ साहित्य-चिन्तन के मौलिक अन्तर्विकास में भी बड़ी भूमिका निभायी है।

शहर, साइकिल और जागरुकता

शहरनामा

राजेन्द्र रवि

कारों की सवारी करने वाला व्यक्ति आराम-तलबी हो जाता है। उसके शरीर के अधिकाधिक अंग एक तरह से निष्क्रिय रहते हैं। परिणाम होता है मोटापा, बदहजमी और कुछ अन्य तरह की बीमारियाँ। इसके विपरीत साइकिल चालक के अंगों की कसरत हो जाती है। रोज एक-डेढ़ घण्टे की साइकिल यात्रा उसके चालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभदायक ही होती है।

आजकल भारत के तमाम शहर सार्वजनिक परिवहन के साधनों की कमी की समस्या से जूझ रहे हैं दूसरी ओर सभी शहर प्रदूषण और जाम की समस्या से बे-तरह परेशान हैं। एक तरफ सड़कों और शहरी ढाँचागत निर्माण में बेतहाशा पैसे बहाये जा रहे हैं लेकिन मूल समस्या ज्यों-की-त्यों बनी है। इसकी जड़ में कार आधारित मानस और उस पर बढ़ती निर्भरता है जिसे आधुनिकता और विकास का पर्याय मानकर प्रचारित किया जाता रहा है। हमारे शहर और समाज में प्रचलित और उपयोग किये जा रहे परिवहन के साधनों को मुख्यतः दो श्रेणियों में रखा जाता है मोटर-युक्त परिवहन के साधन और गैर-मोटर परिवहन के साधन। कार और साइकिल इन्हीं दोनों अलग-अलग श्रेणियों में से हैं। लेकिन कार को आधुनिक और साइकिल को पिछड़ेपन का प्रतीक के रूप में चिह्नित किया जाता रहा है।

कारें और साइकिलें दोनों ही 19वीं शताब्दी की सन्तानें हैं। कारें मोटर वाहनों की परम्परा में हैं और साइकिलें गैर-मोटर वाहनों की परम्परा में। दोनों का जन्म भारत से बाहर हुआ है। मगर भारत में बढ़ती हुई आर्थिक विषमता और सामाजिक गैर-बराबरी ने इनकी अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण इन्हें दो अलग-अलग तबकों का प्रिय वाहन बना दिया है। कारों का मालिक सिर्फ सम्पन्न व्यक्ति ही हो सकता है, क्योंकि इसका क्रय-मूल्य बहुत अधिक है, जबकि साइकिलों का क्रय मूल्य बहुत कम है। कार की खरीद के लिए लाखों-लाख रुपये की दरकार है, कार को चलाने के लिए रोज-रोज ईंधन चाहिए पेट्रोल, डीजल, सी.एन.जी. या इसी तरह का कोई ईंधन। साइकिल को चलाने के लिए किसी भी ईंधन की आवश्यकता नहीं। इसके चालक के हाथ-पैर सलामत रहें तो यह अपने सवार को लेकर कहीं भी चहकती हुई चली जाएगी। एक जगह से निकलकर यह सीधे अपने गन्तव्य पर पहुँचती है। इसे किसी पेट्रोल पम्प पर लाइन में नहीं लगना पड़ता। इसके मालिक को यह चिन्ता नहीं रहती कि पेट्रोल-डीजल इत्यादि ईंधनों के दाम में रोज कितनी बढ़ोत्तरी हो रही है।

कार की मरम्मत और देख-रेख भी कम महँगी नहीं। इसकी धुलाई भी खर्चीली है। कार-मालिक इन कामों को स्वयं अपने हाथों नहीं कर पाता। साइकिल की मरम्मत और साफ-सफाई पर बहुत मामूली खर्च आता है। इन कामों में से थोड़ा-बहुत तो साइकिल मालिक (जो अक्सर चालक भी होते हैं) खुद ही कर लेते हैं। इसके विपरीत, कार-मालिक को हर बार मेकैनिक की मदद लेनी पड़ती है।

सड़क पर चलती हुई कार जितनी अधिक तेज चलती है उसे उसके आगे-पीछे उतनी ही अधिक जगह की जरूरत होती है। खड़ी कार भी, चाहे वह सड़क के चौराहे पर हो या पार्किंग में, ज्यादा जगह घेरती है। साइकिल की गति ज्यादा नहीं होती और

लेखक शहरी सामाजिक योजना के विशेषज्ञ हैं और जन-संसाधन केन्द्र, दिल्ली से जुड़े हैं।
+91 98682 00316
rajendraravi1857@gmail.com

उसका आकार-प्रकार भी ज्यादा नहीं होता, इसलिए वह कार की तुलना में सड़क और पार्किंग दोनों जगहों पर कम जगह छेकती है।

कारें धुआँ और विषैली गैसें छोड़ती हैं। यह नगरवासियों के लिए घातक है। शहर में जितनी अधिक कारें होती हैं, नगर में कार्बन डाईआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड, मिथेन, सल्फर डाईआक्साइड जैसी हानिकारक गैसों की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। साइकिलें किसी प्रकार की कोई गैस नहीं छोड़ती हैं।

नयी कारों के उत्पादन में और पुरानी व दुर्घटनाग्रस्त कारों के कबाड़ में बदलने से भी नगर को अनेक तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में भी बहुत ज्यादा प्रदूषण फैलता है। साइकिलें निर्माण के दरम्यान तुलनात्मक रूप से मामूली प्रदूषण पैदा करती हैं। इनसे पैदा होने वाला कबाड़ भी बहुत थोड़ा होता है। पुरानी व दुर्घटनाग्रस्त साइकिलों के पुराने दुरुस्त पार्ट-पुर्जों का उपयोग साइकिलों की मरम्मत में खूब किया जाता है। पुरानी साइकिलों के इन पार्ट-पुर्जों से कुछ पुरानी साबुत साइकिलें भी तैयार की जाती हैं जिनका इस्तेमाल गरीब कामगार खूब करते हैं।

तेज चलती कारें पैदल यात्रियों और साइकिल चालकों को टक्कर मारकर गम्भीर रूप से चोटिल करती हैं, कभी-कभी तो इनकी जान तक ले लेती हैं। साइकिलें किसी को भी चोट नहीं पहुँचातीं। इसके साथ ही यह कहना जरूरी है कि तेज चलती कारें आपस में टकराकर, बस-ट्रक से टकराकर, रेलों से टकराकर खाई में गिरकर इनमें सवार सभी यात्रियों के जान को जोखिम में डालती हैं। कभी-कभी तीर्थयात्रा, पर्यटन-पिकनिक, किसी समारोह में भाग लेने के लिए कार में निकला पूरा परिवार कार के दुर्घटनाग्रस्त होने से या तो मारा जाता है या अपंग हो जाता है।

कारों के हॉर्न की आवाज से नगरवासियों के कान के पर्दे क्षतिग्रस्त होते हैं। इससे बहरापन की बीमारी पैदा होती है। साइकिल की टुनटुनाती घण्टियाँ संगीत का आनन्द देती हैं।

कार में बैठा आदमी अपने आस-पास की दुनिया से अलग-थलग हो जाता है। वह प्रकृति से भी अलग हो जाता है। इससे उसका सामाजिक दायरा और प्राकृतिक साहचर्य भी सीमित होता है। यह स्वास्थ्य और सामाजिक जुड़ाव दोनों ही दृष्टि से हानिकर है। साइकिलें इसके चालकों को समाज से जोड़े रखती हैं और चालकों को प्रकृति की हवा मिलती रहती है।

कारें चौड़ी सड़कों पर ही चल सकती हैं। इनके चलने के लिए सड़कों का पक्का होना भी जरूरी है। साइकिलों के चलने के लिए 4-5 फीट की गलियाँ भी पर्याप्त हैं। ये कच्ची सड़कों पर भी आराम से दौड़ लगाती हैं।

कारों को चलाने के लिए विशेष प्रशिक्षण और लाइसेंस की आवश्यकता होती है। साइकिलों को चलाना सीखना बहुत ही आसान है। कोई भी स्वस्थ व हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति दो-चार दिन के प्रशिक्षण से इन्हें चलाना सीख लेता है।

कारों की सवारी करने वाला व्यक्ति आराम-तलबी हो जाता है। उसके शरीर के अधिकाधिक अंग एक तरह से निष्क्रिय रहते हैं। परिणाम होता है मोटापा, बदहजमी और कुछ अन्य तरह की बीमारियाँ। इसके विपरीत साइकिल चालक के अंगों की कसरत हो जाती है। रोज एक-डेढ़ घण्टे की साइकिल यात्रा उसके चालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभदायक ही होती है। यह कितना विडम्बनापूर्ण है कि कुछ कार चालक दिन भर कार की सवारी करते हैं और एकाध घण्टे घर में साइकिल से कसरत करते हैं। साइकिल से कसरत माने घर में बन्द रहकर साइकिल की सीट पर बैठकर उसका पैडल चलाना। प्रकृति से उनका सम्पर्क न कार चलाते समय रहता है और न कसरत करते समय। अलबत्ता कुछ कार चालक सुबह-सुबह अपनी कार चलाते हुए पार्कों में पहुँचते हैं; सड़क के किनारे अपनी कार खड़ी करते हैं और वहाँ पार्क में कुछ देर दौड़ लगाते हैं। ये हमारे समय की कुछ बड़ी परस्पर विरोधी घटनाएँ हैं, और हमारे समय में यह भी होना था कि विशालकाय होते महानगरों में कारों की दखल ने अपनी खड़ी होने की जगह के वास्ते शहर को तरोताजा हवा प्रदान करने वाले पार्कों (उद्यानों) को खत्म कर उन्हें बहुमंजिला पार्किंग में बदल दिया है। बढ़ती हुई मोटर-गाड़ियों के लिए शहर की सड़कें अब कम पड़ रही हैं तो उनके किनारे खड़े पेड़ों को बेरहमी से काटा जा रहा है, और पेड़ कटने का अर्थ क्या है? उद्यानों के नष्ट होने के मायने क्या हैं? मनुष्य और प्रकृति के बीच दूरियाँ बढ़ना। ऐसा होने से आप पेड़-पौधों-झाड़ियों से ही दूर नहीं होते, आप पशु-पक्षी व अन्य जंगली जीव-जन्तुओं से भी महरूम होते जाते हैं। इससे पूरी पारिस्थितिकी बिगड़ती है। हमारे जीवन से बहुत सारे रंग, बहुत सारा संगीत, और बहुत सारे सुकून सदा के लिए गायब हो जाते हैं। शहर में सिर्फ पत्थर-ही-पत्थर, कंक्रीट-ही-कंक्रीट, शीशे-ही-शीशे से बनी बहुमंजिला इमारतें दिखती हैं जिनकी सबसे निचली दो-एक मंजिलों में मुख्यतः कारें खड़ी होती हैं और कुछ अन्य मोटरगाड़ियाँ–खासकर दुपहिये वाहन। इनके परिसर में आस-पास भी मोटरगाड़ियों का हुजूम दिखता है। एक कार केवल आवास पर ही पार्किंग की जगह नहीं चाहती, बल्कि वह जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ उसे पार्किंग की जगह चाहिए। अगर वह दिन भर में पाँच-सात जगह जाती है तो उसे इन सभी जगहों पर पार्किंग लॉट्स चाहिए। घर में, दफ्तर में, बाजार में, जलपान गृह के आस-पास, अस्पताल में, हर जगह। सोचिये, एक कार शहर की कितनी जगह खाती है! जितनी बड़ी कार उतनी ही अधिक जगह चाहिए उसे, और एक ही जगह नहीं, जगह-जगह चाहिए उसे जगह। और साइकिलें? कोने-अँतरे में भी गुजारा कर लेती हैं। अगर उन्हें सड़कों पर और पार्किंग लॉट्स में बेहतर सुविधाएँ मिलें यानी सुरक्षित आवागमन और खड़ी होने के लिए सुरक्षित पार्किंग-स्थल की सुविधा उपलब्ध हो जाये तो उनको चलाने के प्रति और नगरवासियों में भी ललक पैदा नहीं होगी? होगी ही।

हम यहाँ सिर्फ एक शहर इन्दौर और साइकिल से उनके रिश्ते की खोज-खबर लेने की कोशिश करते हैं। इन्दौर का शायद ही कोई शिक्षण-संस्थान हो जहाँ साइकिलों का आना-जाना न हो। ज्यादातर विद्यार्थी और कुछ कर्मचारी ही इनका इस्तेमाल करते हैं। कम ही शिक्षक होंगे, एक तरह से अपवाद-स्वरूप ही, जो साइकिलों से चलते होंगे। शिक्षकों में

से ज्यादातर कार, मोटर साइकिल या स्कूटर से आते-जाते हैं। एक कॉलेज के प्राचार्य श्री एस.एल. गर्ग का कहना है, ''इन्दौर शहर की परिवहन-व्यवस्था ठीक नहीं है, इसलिए निजी वाहनों की तादाद बढ़ रही है। इसके अलावा हमारे समाज में दिखावा भी बहुत है। जिस दिन हमारे अफसर, मन्त्री तथा समाज के अन्य गणमान्य लोग कार छोड़कर बस में और साइकिल से चलने लगेंगे, उस दिन से आवागमन के लिए समाज के ज्यादातर लोग इन्हीं साधनों का उपयोग करने लगेंगे। समाज तो बड़े लोगों, प्रभावशाली लोगों का अनुकरण करता है। अभी तो दिखावे के लिए किसी-किसी कार्यक्रम में कोई गणमान्य व्यक्ति साइकिल चला लेता है और बाकी समय वह खुद कार में घूमता है। इससे समाज में यह सन्देश जाता ही नहीं कि साइकिल चलाने से राष्ट्र की ऊर्जा की बचत होती है। साइकिल चलाना गौरव का काम है क्योंकि यह राष्ट्र-हित में है जिस दिन यह बात लोगों के दिल-दिमाग में बैठ जाएगी, उस दिन से वह साइकिल का दिवाना हो जाएगा। ऊपर से गंगा बहे, तभी यह सन्देश समाज में नीचे तक एक सुदृढ़ विचार बनकर जाएगा। नीचे से सुधार का कोई लाभ नहीं। इस तरह के सुधार साइकिलों को न तो सड़कों पर जगह दिला सकते हैं, न समाज में गरिमा। यदि मैं समय पर कॉलेज आऊँगा तो सारा स्टाफ समय से कॉलेज आएगा। यही बात परिवहन के साधनों के मामले में समाज में लागू होती है।

राजकीय बाल विनय मन्दिर उ.मा.वि. इन्दौर की प्राचार्य उमा सिसोदिया कहती हैं हमारे विद्यालय में चयनित बच्चे आते हैं। कुछ नजदीक से आते हैं, कुछ दूर से आते हैं। बच्चे अपनी सुविधा के अनुसार पैदल, साइकिल, स्कूटर, बस और रेलगाड़ी से आते हैं। ट्रैफिक में व्यवधान पड़ने और टायर में पंचर होने की वजह से कभी-कभार लेट भी हो जाते हैं। हमारा स्कूल सरकारी है, इसलिए स्कूल की ओर से बच्चों को लाने-ले जाने के लिए किसी तरह के वाहनों की व्यवस्था नहीं है। स्कूल जाने वाले बहुत सारे बच्चे साइकिल का इस्तेमाल करते हैं।

रुकमा देवी पन्ना लाल माहेश्वरी महाविद्यालय, इन्दौर के छात्र सोहन ठाकुर का कहना है, साइकिल से चलना अच्छा लगता है। इससे न केवल कॉलेज आने-जाने में सुविधा होती है, बल्कि आस-पास के काम करने में भी आसानी रहती है। मैं अपने घरेलू काम, जैसे गेहूँ पिसवाना, पानी भरना (जब घर का नल खराब हो), बाजार से सब्जी लाना, आदि काम के लिए साइकिल से आता-जाता हूँ। सोहन ठाकुर के मन में शहर की विविधता के प्रति पूरा सम्मान है, इस शहर में कई तरह के वाहन चलते हैं। लेकिन समय से सार्वजनिक वाहन उपलब्ध नहीं होते। अगर सुबह-सुबह बसें चलने लगें तो बहुत से लोग अपनी कार और मोटर साइकिलें छोड़कर बसों से जाएँगे। सोहन ठाकुर का यह भी मानना है कि कॉलेज के आस-पास रहने वाले शिक्षकों को साइकिल से ही कॉलेज आना-जाना चाहिए। घर के बड़े-बुजुर्गों को यथासम्भव साइकिल से आने-जाने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए। इससे बच्चों में भी साइकिल के प्रति लगाव बढ़ेगा।

राहुल बगवार भी उसी कॉलेज का छात्र है। यह साइकिल से न केवल कॉलेज जाता है बल्कि कोचिंग करने भी जाता है। इसका कहना है, घर से 2-3 कि.मी. कॉलेज आने-जाने के अलावा रोज भँवर कुआँ स्थित एक कोचिंग इंस्टिट्यूट लगभग 7 कि.मी. दूर जाता हूँ। मेरी अपनी साइकिल तो चोरी चली गयी। अब एक दोस्त की साइकिल का इस्तेमाल करता हूँ। पारिवारिक आर्थिक स्थिति इतनी दुरुस्त नहीं है कि तुरन्त कोई दूसरी गाड़ी, यहाँ तक कि साइकिल ही खरीद सकूँ। इसका यह भी कहना है, कारों को सब्सिडी वाले ईंधन एकदम बन्द कर देना चाहिए और इन पर भारी टैक्स लगाना चाहिए ताकि लोग इन्हें खरीदने के बारे में दस बार सोचें। कारों के लिए बैंकों द्वारा ऋण की सुविधा होने से ही लोग अपने खान-पान में भी कटौती करके उनकी किश्तें भर रहे हैं। खरीदने से लेकर ईंधन भरने तक कारें मनुष्य के आहार पर डाका डाल रही हैं। कारों के विविध मॉडलवाले खिलौने बचपन से ही दिमाग पर कब्जा करके उन्हें समाज से अलग-थलग कर रहे हैं।

न केवल लड़के, बल्कि शहर के विद्यालयों में पढ़ने वाली लड़कियाँ भी शहर में आने-जाने के लिए साइकिलों का उपयोग करती हैं। क्लोथ मार्केट कन्या विद्यालय, बड़ा गणपति, इन्दौर की छात्रा वैशाली चौहान कहती है, ''पढ़ाई का सम्बन्ध केवल विद्यालय से जुड़ा मसला नहीं है। पढ़ाई के सिलसिले में कोचिंग इंस्टिट्यूट और सहेलियों के पास भी आना-जाना होता है। मैं इन सारी जगहों पर साइकिल से ही आती-जाती हूँ।'' इसका यह भी कहना है, ''मेरे विद्यालय में लगभग ढाई हजार लड़कियाँ पढ़ती हैं। इनमें से लगभग पाँच सौ लड़कियाँ साइकिल चलाती हैं। विद्यालय में साइकिल स्टैण्ड और स्कूटी स्टैण्ड अलग-अलग हैं। वहाँ साइकिल खड़ा करने में कोई दिक्कत नहीं होती। कभी-कभी रास्ते में कुछ लड़के भद्दी टिप्पणियाँ करते हैं, लेकिन हम उनको अनसुना कर निकल जाती हैं।'' इसी विद्यालय में पढ़ने वाली इसकी हमउम्र सहेली प्राची दुबे कहती है, ''हमारा विद्यालय ज्यादा दूर नहीं है। साइकिल से पाँच मिनट लगते हैं। पहले सड़क खराब थी, ऊबड़-खाबड़। अब ठीक हो गयी है तो साइकिल पर चलने में आनन्द आता है। लेकिन इस सड़क पर साइकिलों के साथ-साथ मोटरगाड़ियाँ भी चलती हैं, इसलिए हम निर्भय होकर अपनी साइकिलें नहीं चला पातीं। दरअसल साइकिल के लिए शहर की सभी सड़कों पर अलग से लेन होनी चाहिए। कुछ सड़कें तो ऐसी होनी चाहिए जिन पर केवल पैदल-यात्रियों और साइकिलों को ही चलने की अनुमति हो।''

■

कारों के लिए बैंकों द्वारा ऋण की सुविधा होने से ही लोग अपने खान-पान में भी कटौती करके उनकी किश्तें भर रहे हैं। खरीदने से लेकर ईंधन भरने तक कारें मनुष्य के आहार पर डाका डाल रही हैं। कारों के विविध मॉडल वाले खिलौने बचपन से ही दिमाग पर कब्जा करके उन्हें समाज से अलग-थलग कर रहे हैं।

श्याम बेनेगल की याद

राजीव रंजन प्रसाद

स्मरण

श्याम बेनेगल कहानी के कथ्य से अधिक सिनेमा के बनने की प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस जगह वह अपनी भूमिका चूल्हे में लकड़ी लगाने की रखते हैं, बाकी ईंधन की आँच में पूरी फिल्म बनकर तैयार हो जाती है। हिन्दी सिनेमा का यह शऊर कुछ ही निर्देशकों के पास रहा है, उनमें श्याम बेनेगल एक हैं।

लेखक राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं।

+919436848281

rrprgu@gmail.com

सिनेमा की अन्तर्वस्तु खालिस कहानी न होकर कहानी कहने और दिखाने की कला है। श्याम बेनेगल जैसे निर्देशक इस बात को सिद्ध करते हैं, तो वे गलत नहीं हैं। दरअसल, ऐसे कम निर्देशक हिन्दी सिनेमा को नसीब हुए हैं जो सिनेमा विधा के वास्तविक जानकार हों और जिनमें इतनी काबिलियत हो कि हाशिये से लेकर मुख्यधारा तक के लोगों का समायोजन अथवा अन्तर्वेशन कर सकें।

श्याम बेनेगल ने ऐसा कर दिखाया है। साथ ही, 70 और 80 के दशक के बीच अपनी फिल्म-निर्माण शैली का लोहा भी मनवाया है। वह भले हिन्दी कवि अरुण कमल की शैली में कहते दिखते हों–''अपना क्या है इस जीवन में/सब तो लिया उधार/सारा लोहा उन लोगों का/अपनी केवल धार''; लेकिन श्याम बेनेगल असलियत में क्या हैं–उनके दर्शक जानते हैं। 70 के दशक में उनकी फिल्म परदे पर आयी, तो अपनी सिनेमाई कहन और बुनावट से अचम्भित करके रख दिया। वास्तविकता और यथार्थ की घुली-मिली जिस अनूठी शैली को फिल्मकार श्याम बेनेगल ने ऊँचाई दी, उसे हिन्दी सिनेमा में 'न्यू वेव' कहा गया। हिन्दी सिनेमा की इसी नयी लहर को बाद में समान्तर सिनेमा के रूप में पहचान मिली और श्याम बेनेगल प्रणेता सिद्ध हुए। कवि शमशेर की कविता के लिए रघुवीर सहाय ने कुछ कहा था। 23 दिसम्बर, 2024 को श्याम बेनेगल का निधन हुआ तो मुझे उनकी फिल्मों को लेकर रघुवीर सहाय की कही गयी बातें याद हो आयीं। सिर्फ कविता की जगह 'फिल्म' शब्द रख लें, तो पक्की बात यह होगी कि–'जब आप उनकी फिल्में देखते हैं तो, वह अलग कहीं पैदा होता है–समानान्तर। हाँ, पर इसी संसार की ध्वनियों और गतियों से मिलकर बना हुआ। आप उसे इसी संसार के पदार्थों में चलता देख भी सकते हैं, वह कोई चीज है। कई साजों के अनमेल से पैदा हुआ एक हाहाकार-सी कोई चीज, एक पवित्र हृदय से मुस्कुराता और कुछ न माँगता चेहरा-न दया-न देह, यहाँ तक की प्रशंसा भी नहीं।''

श्याम बेनेगल ने कैरियर की शुरुआत एक विज्ञापन एजेंसी में कॉपीराइटर की भूमिका से की थी। वह शुरुआती नौकरी मुम्बई में कर रहे थे। इसके बाद वह हिन्दी फिल्मों की ओर मुड़े। अंकुर श्याम बेनेगल की शुरुआती फिल्म थी जो जाति के प्रश्न को मुखर ढंग से उठाती है। यह फिल्म 1974 ईस्वी में रिलीज हुई। इसके 1 साल बाद निशान्त फिल्म बनी। 1975 में आयी इस फिल्म को खूब सराहना मिली। अगले ही साल 1976 ईस्वी में मन्थन फिल्म बनकर तैयार हुई। श्याम बेनेगल द्वारा 90 तक बनायी गयी सिनेमा में 'भूमिका', 'जुनून' 'कलयुग', 'मण्डी', 'त्रिकाल' बहुत सारी फिल्मों का नाम शामिल है। इसके बाद 'अन्तरनाद', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'मम्मो', 'सरदारी बेगम', 'समर', 'हरी-भरी', 'जुबैदा', 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस–द फॉरगॉटेन हीरो', 'वेलकम टू सज्जनपुर', 'वेलडन अब्बा' जैसी फिल्मों का निर्माण कर उन्होंने हिन्दी सिनेमा में मशहूरियत की नयी लकीर खींची। नये चेहरों को सामने किया

और खुद पीछे रहकर भारतीय कलाकारों को बड़ी ऊँचाई प्रदान की।

श्याम बेनेगल का मन एक जनतान्त्रिक मन था। वह लोकतन्त्र की परिपाटी में अटूट विश्वास करते थे। संविधान में उनकी पूर्ण आस्था थी। 2014 ईस्वी में 'संविधान –द मेकिंग ऑफ द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया' का निर्माण कर उन्होंने यह जताया कि भारत की रीढ़ की हड्डी या गाँधी जी का असली जन्तर यही है। यह टेलीविजन धारावाहिक भारतीयता के इतिहास में भारत-बोध का प्रामाणिक दस्तावेज है। इससे पूर्व 1996 ईस्वी में श्याम बेनेगल ने 'महात्मा गाँधी के प्रारम्भिक वर्षों का सिनेमाई अध्ययन–'द मेकिंग ऑफ महात्मा' का निर्माण कर गाँधी की आदर्श छवि को जन-गण की आँख और दिलोदिमाग तक पहुँचाया। श्याम बेनेगल के चयन की आँख बेमिसाल रही। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू पर वृत्तचित्र 1983 ईस्वी में बनाया। 'यात्रा' नाम से टेलीविजन धारावाहिक 1986 ईस्वी में देखने को मिली। इसी क्रम में 1988 ईस्वी में दूरदर्शन के लिए श्याम बेनेगल ने 53 एपिसोड में 'भारत एक खोज' (डिस्कवरी ऑफ इण्डिया) का निर्माण किया। श्याम बेनेगल सिनेमा को कैमरे की आँख से गढ़ते जरूर थे, लेकिन उसमें दिख रही दृश्य-छवियाँ अपनी आँख से सृजित होती थीं। साहित्य की उनकी गहरी समझ और गहन संवेदना देखने लायक है। 'जुनून' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उदाहरण हैं।

इन दिनों हिन्दी सिनेमा घटिया 'हिरोइज्म' की शिकार है। पिछली पीढ़ी ने 'यंग्री यंगमैन' की छवि गढ़ी थी, जिसकी लोकप्रियता किसी से छुपी नहीं है। लेकिन अब वही लोकप्रियता अर्थहीन संवाद, स्टण्टनुमा उछल-कूद और कामुकता को गति देते 'गेस्चर' से भरे हुए हैं। अब फिल्म समीक्षक या आलोचक नहीं, दर्शक ही निर्णायक की भूमिका में हैं जो प्रेम का केक बनाता, काटता और मजे लेता दिख रहा है। यह दृष्टिकोण विरासत से नहीं मिली है, बल्कि आज की पीढ़ी की आधुनिक फन्तासी है जिस झूठ-मक्कारी को वह सुमंगल के रूप में स्वीकार कर चुका है। यह बावलापन हिन्दी सिनेमा के दर्शक को सिनेमा के उन प्रदेयों से दूर ले जाता है जिसकी मेड़ बनाने में श्याम बेनेगल जिन्दगी के आखिर तक जुटे रहे। उन्होंने गरीबों एवं मजलूमों की हकदारी की बात की। 'आरोहण' फिल्म भारतीय किसानी के अर्थशास्त्र को जिस बुनियादी ढंग से सिनेमा के परदे पर दर्शाता है; वह विलक्षण दृष्टि और हिन्दुस्तानी लोक-आस्था कम ही निर्देशकों के पास है। श्याम बेनेगल जिन्होंने भारत को जनतान्त्रिक इमेज दी और हाशिये के प्रतिरोध को गाढ़ा किया, वह 'अंकुर' का पत्थर अब चेतना का पठार बन चुका है। यह पत्थर श्याम बेनेगल ने 70 एम.एम के परदे पर जिस तबीयत से उछाला था–आज वह कई सारे विमर्शों के रूप में हमारे सामने है। हिन्दी का समूचा विमर्शात्मक लोकवृत्त इसका गवाह है। 'मन्थन' ने भारतीय किसानों के आपसी मजबूती को ताकत की बुनियाद बनाकर पेश किया। इस फिल्म के बनने की कहानी दिलचस्प है। इसमें 5 लाख किसानों ने दो-दो रुपये के योगदान से फिल्म का निर्माण किया था। पहली बार सहकारिता की ऐसी भावना दिखी थी, जब किसी फिल्मकार ने किसानों को सीधे परदे से जोड़ा। भारतीय किसान निर्माता की भूमिका में थे।

श्याम बेनेगल हिन्दी सिनेमा के हिन्दुस्तानी बौद्धिक हैं। इतिहासविद् हितेन्द्र पटेल ने एक जगह कहा है कि हिन्दुस्तानी बौद्धिक होने का जो अर्थ होना चाहिए, वह है–भारतीय संस्कृति का बोध, अतीत के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा और अपनी बौद्धिक परम्परा का ज्ञान। श्याम बेनेगल में यह सब है। उनकी फिल्में समाज से जुड़ी हैं और राजनीतिक प्रभाव छोड़ती हैं। साथ ही अन्य निर्देशकों को प्रेरित और अनुशासित करती हैं। उनकी फिल्में सिने-संसार से बहुत कुछ अभिग्रहण कर लेने की अपेक्षा रखती हैं। इन सबसे बढ़कर हिन्दी सिनेमा को उत्तर जीवन प्रदान करती हैं। यह उत्तर जीवन आज की पीढ़ी के लिए विरासत है, बशर्ते इसे सँभाला जाये, सहेज लिया जाये।

श्याम बेनेगल की फिल्म में आहिस्ते बोलने और मुलायमित से देखने का आग्रह करती हैं। क्योंकि श्याम बेनेगल की फिल्म दृश्यों में धीरे-धीरे घटित और भाषा में व्यंजित होती हैं। श्याम बेनेगल के दृश्य-चित्र में भाव और संवेदना के अनोखे समवाय हैं, लेकिन ये चित्रपट बेकार के चिल्ल-पों, भीड़ अथवा किसी होड़ का हिस्सा नहीं हैं। श्याम बेनेगल की फिल्में कोई वर्ग-रचना नहीं करती हैं। वह अपने क्लासिकल होने का दावा भी नहीं करती हैं, लेकिन अपना प्रभाव सब पर छोड़ती हैं। जब किसी सिनेमा निर्माण की प्रक्रिया को नजदीक से देखेंगे तो आपको निर्देशक की गहरी समझ और व्यापक दृष्टि उसमें अनुस्यूत मालूम देगा, अन्यथा निर्देशक वास्तव में कहीं नहीं है। श्याम बेनेगल अपने को कहीं नहीं रखते हैं, लेकिन सब जगह उनका प्रभाव मौजूद है। इस मौजूदगी में दृष्टि का नैरन्तर्य है, तो सामाजिकता की धड़कती हुई चेतना है। श्याम बेनेगल किसी चीज की स्वाभाविकता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए उनका दृश्य-विधान सतरंगी अर्थात इन्द्रधनुषी है। दृश्यों की जीवन्तता, चपलता, खिलखिलाहट, मुस्कुराहट, रुलाई, कहन की अदा, फरमाइश की शैली, उलाहना के तरीके, गुस्सा, क्रोध, तिलमिलाहट, आगबबूला होना, विनोदप्रिय अन्दाज, अकड़, फकीरी, बादशाहत, वात्सल्य, ममत्व आदि को आप एकदम स्वाभाविक ढंग से परदे पर घटित होते देख पाएँगे।

श्याम बेनेगल किरदार को कागजी नाव देकर सवारी करने के लिए नहीं कहते हैं। इसके लिए किरदार को झील में नाव देकर भी नहीं बिठाते हैं, बल्कि जिन्दगी की सड़क पर चलते हुए धरती-आसमान घूम लेने की छूट देते हैं। यह छूट मामूली किरदार को भी खास बना देती है।

श्याम बेनेगल और गोविन्द निहलानी की जोड़ी ने समान्तर सिनेमा की बुनियाद रखी। एक ऐसे दौर को जन्म दिया जिसे समान्तर सिनेमा के नाम से जानते हैं। यह भारत में सिनेमा की नयी लहर थी जो नयी वेव के साथ पर्दे पर दिखाई दे रही थी। इसका तेवर और अन्दाज दोनों वास्तविक था, यथार्थ की जमीन पर टिका हुआ। इससे पूर्व के जो फिल्म निर्देशक थे उनकी दृष्टि श्याम बेनेगल ने आत्मसात की थी। सत्यजीत रे और गुरुदत्त का प्रभाव इनके ऊपर गहरा था। मृणाल सेन और मणि कौल की परम्परा को वह अपनी निगाह से देख और टटोल रहे थे। वह हिन्दी सिनेमा में जिस मुहावरे को गढ़ रहे थे, उस भाषा में युग-बोध और समाज का खरापन दिखाई देता है। उनकी फिल्में भारतीयता के सुर को आलाप देती

हैं। इस आलाप की अनुगूँजें भारतीय प्रायद्वीप से बाहर तक सुनाई देती रही हैं। उदहारण के लिए 1980 ई. में मणि कौल ने 'सतह से उठता आदमी' फिल्म बनाई, जिसे कॉन फिल्म समारोह में दिखाये जाने का ऑफर मिला। श्याम बेनेगल स्वयं इसी माटी से बने और इसी परम्परा में दीक्षित हुए एक दूरदर्शी और जुनूनी फिल्मकार थे जिनके फिल्मों ने अन्तरराष्ट्रीय पटल पर लोकप्रियता हासिल की है। उन्हीं की फिल्म 'जुनून' का वह मिसरा दुहराना लाजमी है– *''लाली मेरे लाल की/जित देखूँ तित लाल/लाली देखन मैं गयी/तो मैं भी हो गयी लाल''।* इन बोलों की टेक हिन्दुस्तानी है– *''सजन मिलाया इस आँगन में/जिस आँगन में, किस आँगन में''।*

श्याम बेनेगल तमाम तरह के विवादों से दूर रहे। उनके व्यक्तित्व में एक अलग तरह की साफगोई थी। वह जितनी सरलता से अपनी बात कहते थे, उतनी ही पैनेपन से दृश्य में उसे जिन्दा कर देते। उनके कहे में गहराई थी। फिल्म माध्यम के रेशे-रेशे से वाकिफ फिल्म निर्देशक के रूप में श्याम बेनेगल ने भारतीयता के मर्म को छुआ और शब्द-अर्थ की संगति में उनको यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान की। इसीलिए उनकी फिल्में मुख्यधारा में अपनी अलग पहचान बना लीं, जिन्हें समान्तर सिनेमा कहा गया। समान्तर सिनेमा का दौर वास्तव में भारतीय आजादी के बाद के मोहभंग का दौर है। बनते हुए भारत का स्वप्न बिगड़े हुए भारत के रूप में गतिशील था। समाज में निराशा, हताशा और बेचैनी दिख रही थी। आदर्श छीज रहे थे, जबकि झूठ-दम्भ की परत मोटी हो रही थी। सरकारी तन्त्र में नौकरशाही बुलन्दी पर थी, वहीं जनता त्राहिमाम करती हुई अपने ही जीवन को कोस रही थी।

श्याम बेनेगल ने समान्तर सिनेमा के माध्यम से वास्तविक भारत का दिग्दर्शन कराया जिन कहानियों के विषय आमजन की आपबीती अधिक थी। यह कहने का साहस और गर्भित व्यंजना के साथ कह ले जाने का दमखम श्याम बेनेगल में अद्‌भुत दिखाई देता है। वह भाषा के वाग्जाल में रत्ती-भर फिसलते नहीं हैं, बल्कि सादगी से सच्चाई को हू-ब-हू बयाँ कर देते हैं। श्याम बेनेगल की फिल्में शान्त और मद्धिम चाल से आगे बढ़ती हैं जहाँ खेत खेत की तरह और बिल्डिंग बिल्डिंग की तरह दिखाई देते हैं। वह बिना अतिरिक्त काजल और सुरमा लगाये अपने फिल्म की अभिनेत्रियों से वह सब कुछ कहा ले जाते हैं, जो भारतीय स्त्रियों की बड़ी ताकत है। स्मिता पाटिल और शबाना आजमी को परदे पर वह जिस तरह मुखातिब करते हैं वह कोई मँजा हुआ निर्देशक ही कर सकता है। यद्यपि भारतीय फिल्मों में हिन्दी सिनेमा 'नायक' या 'नायिका' केन्द्रित रहे हैं। दर्शक जिन चीजों से जुड़ता है और उनसे बँध जाता है; उसमें अभिनय और संवाद की अदायगी मुख्य रही है। इसके बाद गीत के बोल उसकी जुबान पर चढ़ जाते हैं। फिर यह दर्शक कभी 'सदाबहार गीत' के रूप में उनको याद रखता है या फिर 'भूले-बिसरे' गीत के तौर पर। हिन्दी फिल्म की कथाएँ भी लम्बे घोड़े का रेस कभी नहीं रहीं। जनता भूलने की कला में माहिर है। वह भूल जाती है, तो याद तभी आता है जब कोई उसी तरह की कथावस्तु या कथानक वाली फिल्म उसके आँखों के आगे से दुबारा गुजरती है। हिन्दुस्तानी स्मृति में हिन्दी फिल्म जगह बनाने का दावा भले करती हों, लेकिन वह संजीदा दर्शकों को छोड़ दें तो सामान्यतः बिसरा देना ही भारतीय दर्शकों का मुख्य शगल है।

भारत में हिन्दी फिल्म मनोरंजन का पर्याय शुरू से मानी जाती रही है, लेकिन उसमें नैतिकता का मिश्रण, आदर्श की स्थापना और मूल्यों का निर्वाह एक मजबूत कड़ी के रूप में टँकी रहती है। आज जब फूहड़ और अश्लील सिनेमा को लेकर बातें की जाती हैं, तो पुरानी सिनेमा की याद आती है। ये फिल्में नीचा नगर, जागते रहो, प्यासा, कागज के फूल, चौदहवीं का चाँद, सी.आई.डी., साहब बीवी गुलाम, मदर इण्डिया, पड़ोसन, मेरा नाम जोकर, मुगले आजम, सुजाता, तीसरी कसम, आर-पार, जिद्दी, अंकुर, मन्थन, आरोहण, नमकीन, अर्द्धसत्य, पार, दामूल, फायर, वाटर इत्यादि कई हैं। यह देखना होगा कि फिल्मकार जीवन की अस्फुट और अस्पष्ट ध्वनि को भी परदे पर घटित करने का उपक्रम करता है। वह मनुष्य जीवन के समान्तर एक जीवन कल्पित करता है और उसे सिनेमा की तकनीक में ढालकर 'लार्जर दैन लाइफ' बना देता है। श्याम बेनेगल ने यही किया। वह अपने जीवन के आखिरी साँस तक मौजूदा समाज को परदे के केन्द्र में रखने का प्रयास करते रहे। वह फिल्म की कथा से बाहर जाकर कुछ कहने की बजाय कथा के माध्यम से सामाजिक सच को दिखाते रहे, ताकि जनता के मस्तिष्क में सामाजिक यथार्थ और मानुषिक सच्चाई की छवि ओझल न हो सके। श्याम बेनेगल जिन्होंने गाँधी, नेहरू से लेकर संविधान तक को अपने 'रील लाइफ' का विषय बनाया और बिना किसी 'नेम-फेम' की आशा के सहज गतिशील बने रहे; उनके लिए उन्हीं की निर्देशित फिल्म 'जुनून' की पंक्ति भेंट करना लाजमी लग रहा है– *''चल खुसरो घर आपने साँझ भई चहुँ देश''।*

अतएव, श्याम बेनेगल का निधन भारतीय समाज के लिए बड़ी रिक्तता है, अपूरणीय क्षति है। हिन्दी सिनेमा के जिन चन्द फिल्मकारों के पास बड़ी दृष्टि तथा हिन्दुस्तानी समाज की गहरी और व्यापक समझ रही है, श्याम बेनेगल उनमें शामिल हैं। उनकी अन्तःदृष्टि भारत-बोध की अहसास से भरी हुई है। गाँव और ग्रामीण परिवेश की लौकिकता को उन्होंने फिल्म विधा की व्यावसायिक चुनौतियों के बीच साकार किया। हाशिये के समाज की विडम्बना और बेचैनी को श्याम बेनेगल शिद्दत से महसूस करते थे। उनकी फिल्मों में जीवन्तता, चुहलबाजी, चपलता, ग्रामीण लोक-भाषा की मुहावरेदानी जितनी सूक्ष्मता और वास्तविकता के साथ दिखाई पड़ते हैं, वह सब कुछ निर्देशक श्याम बेनेगल की फिल्मों की पहचान बताती हैं। श्याम बेनेगल की फिल्मों में हर दृश्य अपनी कहानी खुद बयाँ करता है, अपनी उपस्थिति स्वयं दर्ज करता है। वह चित्रण इतनी शाइस्तगी से करते हैं कि देख रहा दर्शक खुद-ब-खुद उनसे 'कनेक्ट' हो लेता है।

आज श्याम बेनेगल नहीं रहे। कल हम नहीं रहेंगे। एक ही समय में फिल्म बनाने वाले और उसे देखने वाले साथ-साथ मौजूद रहें, जरूरी नहीं है। लेकिन आने वाली पीढ़ियों को जैसी फिल्में श्याम बेनेगल ने सौंपी हैं, वह अन्तर्दृष्टि उनको सदैव मिलती रहेगी।

■

तलाक-त्रासदी से उत्सव तक का सफर

रक्षा गीता

सिनेमा

तलाकशुदा स्त्री मतलब उसके जीवन में कलंक। नायिका श्रुति इसे नयी शुरुआत की तरह लेना चाहती है। दोनों गोवा में पार्टी रखते हैं जिसमें वे यह सन्देश दे रहे हैं कि तलाक से वे दोनों दुःखी नहीं बल्कि खुश हैं। फिल्म के अन्त में दोनों की बेटी रोहिणी को अग्नि गुरुजी समझाते हैं कि 'जब चीज पास से समझ में न आये तो उन्हें दूर से देखना चाहिए क्योंकि स्पष्टता के लिए उचित दूरी जरूरी है' और दूर से देखना वास्तव में परिवार में एक-दूसरे को स्पेस देने की बात को ही स्पष्ट करता है।

हाल ही में वैवाहिक जीवन की त्रासदियों को हमने अतुल सुभाष तथा पुनीत खुराना की आत्महत्याओं में तब्दील होते देखा। इस तरह की पुरुष-प्रताड़नाओं को 'स्त्री सशक्तीकरण' से जोड़कर फेमिनिज्म को बदनाम किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री सचमुच इतनी सशक्त हो गयी कि पुरुषों की आत्महत्या का कारण बन जाये? इसमें दो राय नहीं कि स्त्रियाँ आज भी वैवाहिक जीवन की घुटन से निकलने में असमर्थ हैं। कारण स्पष्ट है कि स्त्रियों के लिए तलाक आज भी कलंक है। माँ-बाप यही शिक्षा देते हैं कि ससुराल में चाहे उसका कितना ही अनादर हो, उसकी महत्ता भी शून्य हो, वे तलाक की बात तक न करे। स्वावलम्बी होने पर भी लड़की यदि तलाक के लिए आवाज उठाती है तो घरवाले साथ नहीं देते। पितृसत्ता के सर्वाधिक मजबूत आधार स्तम्भ विवाह संस्था और परिवार ही हैं। विवाह के बाद आजीवन साथ निभाने की शर्त या विवशता लड़के-लड़की दोनों को होती है। इस पवित्र बन्धन में दोनों प्रताड़ित हो सकते हैं, होते भी हैं। आज जीवनसाथी डॉट कॉम, शादी डॉट कॉम, टिण्डर या नॉट एप्प आदि के माध्यम से विवाह हो रहे हैं। विवाह के सन्दर्भ में पारिवारिक चाची, बुआ, मामा, मौसी आदि की भूमिकाएँ लगभग खत्म हो रही हैं। नेटफलिक्स पर उपलब्ध 'डीकपल्ड' वेब सीरीज आधुनिक सामाजिक संरचना के अनुरूप हमारे सामने विवाह नहीं बल्कि तलाक के विकल्प को नये स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। हाँ, यह भी अनिवार्य है कि विवाह संस्था के ढाँचे में सकारात्मक बदलाव स्वीकार किया जाये तो तलाक पर भी नये सन्दर्भों में बात होनी चाहिए। शादी अगर जहरीली हो रही है तो तलाक को अपनाना गलत नहीं।

मनू जोसफ की कहानी, हार्दिक मेहता का निर्देशन, आर. माधवन और सुरवीन चावला के बेहतरीन अभिनय के साथ 'डीकपल्ड' वेबसीरीज आपको दिल्ली-एन.सी.आर. गुरुग्राम के हाईप्रोफाइल जोड़े के टूटते रिश्तों की कहानी लगेगी। लेकिन वास्तव में यह रिश्तों के टूटने की नहीं बल्कि तलाक के बाद उन्हीं सम्बन्धों के नये आरम्भ की कहानी है। फिल्म स्पष्ट करती है कि परम्परागत वैवाहिक संस्था में अब नये जोड़-तोड़ की जरूरत है। आज यह स्थिति सिर्फ हाई प्रोफाइल की ही नहीं रह गयी बल्कि मध्यवर्ग की भी समस्या बन चुकी है। परम्पराओं और रूढ़ियों से बँधा यह वर्ग आज भी असमंजस की स्थिति में रहता है। आधुनिकता की दौड़ और होड़ में वह बहुत जल्दी हताश हो जाता है। मुझे लगता है कि विवाह संस्था के सन्दर्भ में मध्यवर्ग आज प्रयोगशील भूमिका में है। ये प्रयोग निरन्तर असफल इसलिए हो रहे हैं क्योंकि पितृसत्तात्मक संरचना से वे अभी भी

लेखिका कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+919311192384
rakshageeta14@gmail.com

नहीं निकलना चाहते। खुद लड़के-लड़कियाँ भी विवाह से गुँथे बाजार-मोह से कहाँ आजाद हो पाये हैं? बहुत दुःखद होता है कि विवाह पर शाही खर्च करने के बाद जब शादी न निभाये जाने पर जब वे तलाक की प्रक्रिया में आते हैं तो वहाँ भी उनके हिस्से दुःख और त्रासदी ही आती है। सालों-साल गुजर जाते है और तलाक का निर्णय नहीं आता और हताशा में आत्महत्या जैसी त्रासदी का सामना करना पड़ता है। 'डीकपल्ड' फिल्म संजीदगी से विवाह और तलाक पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित करती है। फिल्म में 'तलाक' को दुःख, त्रासदी, कलंक या विडम्बनाओं से परे एक नयी शुरुआत के रूप में सामने रखा गया है। आज तो ग्रे तलाक जैसे मामले भी सामने आ रहे हैं। यद्यपि तलाक कभी अच्छा विकल्प नहीं फिर भी नारकीय जीवन से बेहतर ही है।

'डीकपल्ड' दम्पति तलाक के बाद भी अपनी बेटी के कारण इस रिश्ते को बनाये रखना चाहते हैं, दोस्ती की तरह निभाना चाहते हैं, एक ही छत के नीचे रहकर एक दूसरे का ख्याल रखना चाहते हैं, तो आप भी नायिका श्रुति की माँ की तरह कहेंगे ''तो फिर शादी में और क्या होता है?'' यह प्रश्न वास्तव में परम्परागत वैवाहिक सम्बन्धों के भीतर 'बन्धनों' की घुटन की ओर इशारा करता है। कहानी इसी घुटन से निजात पाने की नयी खोज कर रही है जिसे हमारी मध्यवर्गीय मानसिकता अभी स्वीकार कर पाने की स्थिति में नहीं आयी है। हम देखते हैं कि वैवाहिक उत्सवों पर पानी की तरह पैसा बहाया जाता है, हमारे समाज में विवाह के महत्त्व को इनकार भी नहीं किया जा सकता। फिल्म की कहानी रिश्ता टूटने पर नहीं बल्कि इस टूटे हुए रिश्ते को नये नाम के साथ कैसे समेटे इस पर केन्द्रित है। दोनों विवाहेतर सम्बन्धों में रहने की भी कोशिश करते हैं लेकिन सफल नहीं हो पाते, कारण शायद यही है कि कहीं-ना-कहीं विवाह की गाँठ अभी भी बहुत मजबूत है चाहे वे कितने ही हाई-प्रोफाइल क्यों न हों! नाम भी भले ही अँग्रेजी में है 'डीकपल्ड'।

कहानी सीधी-सादी है, पति आर्या आर. माधवन एक सफल पल्प-फिक्शन लेखक हैं जो सुप्रसिद्ध चेतन भगत को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उससे ऊपर बेस्ट सेलर बनने की कोशिश कर रहा है। 'लुगदी साहित्य' का लेखक सामान्य मानव की इच्छाओं को बिना किसी नैतिक-बन्धनों के प्रस्तुत करता है। यथार्थ की उन तमाम विकृतियों को वह उघाड़कर सामने रख देता है जिसे समाज आसानी से स्वीकार नहीं कर पाता। वास्तव में 'पल्प के आईने में' अपना विकृत रूप देखकर हम घबरा जाते हैं। सम्भवतः इसलिए आर्या जैसे लेखक साहित्यकार के रूप में स्वीकार्य नहीं होते। आर्या का व्यवहार भी हमें अटपटा लगता है जो लाजिमी है। उसकी पत्नी श्रुति सुरवीन चावला अब उसके इस व्यवहार से थक चुकी है और तलाक लेने का मन बना चुकी है। तथाकथित सभ्य माने जाने वाले कारपोरेट जगत से जुड़ी सफल श्रुति के खयालात और सोच बिल्कुल नये ढंग के हैं। उसका संघर्ष 'स्त्री सशक्तीकरण' के संघर्ष से कुछ अलग है, उसने 13 साल की उम्र में अपने पिता को भी अपना बाथरूम इस्तेमाल करने नहीं दिया था। जिसका दुःख आज तक उसके पिता को है। श्रुति तलाक को तलाकशुदा महिला की त्रासदी के रूप में नहीं जीना चाहती, उसके खयालातों और निर्णयों में वह बिल्कुल स्पष्ट है। अपने पिता से साफ कहती है कि मैं अच्छी तरह से व्यवस्थित हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि मुझे आपकी जायदाद से कुछ नहीं चाहिए। आप सब कुछ अपने बेटे को नहीं दे सकते! दोनों अपने तलाक का जश्न मनाकर यह साबित करना चाहते हैं कि 'वैवाहिक-बन्धन' जब वास्तव में बन्धन लगने लगे तो अलग होने की प्रक्रिया दुःखदायी नहीं होनी चाहिए, अगर अलग रहने में खुशी है तो इस खुशी को अभिव्यक्त करना चाहिए वरना समाज तो आपके चेहरे पर हमेशा बेचारगी देखना ही चाहता है।

भारतीय समाज में विवाह संस्था एक पवित्र बन्धन है। इस पर अटूट विश्वास के साथ यह दम्भ भी है कि हमारे यहाँ तो तलाक होते ही नहीं अपितु 'सम्बन्ध-विच्छेद' की कोई संकल्पना ही नहीं, कोई स्थान भी नहीं। यहाँ तलाक के लिए कोई शब्द भी नहीं है। यह ठीक भी है, तलाक बहुत पुरानी संकल्पना नहीं 1955 में गुरुदत्त-मधुबाला की फिल्म 'मिस्टर एण्ड मिसेज 55' आयी थी जिसमें नायिका की बुआ 'वुमन लिबरेशन' का झण्डा फहराना चाहती है खुद उसने भी विवाह नहीं किया। वह अपनी भतीजी के लिए किराये का पति खोज रही है जो एक तय समय-सीमा के बाद उसे तलाक दे देगा लेकिन अन्त में जीत भारतीय संस्कारों की ही होती है। नायिका तलाक देने से इनकार कर देती है। आज हम जिस डिजिटल युग में जी रहे हैं वहाँ चीजें पलक झपकते बदल जाती हैं, इस जीवन-शैली में हमें हर पल कुछ नया, रोचक बल्कि रोमांचक चाहिए। आधुनिकीकरण की अन्धी दौड़ और विकास की तीव्र गति में हमारे कदम कहाँ पड़ रहे हैं हमें भी नहीं मालूम। अँग्रेजी में सोचने वाले आज के युवा दोस्ती, प्रेम, विवाह, परिवार और तलाक की नयी परिभाषाएँ गढ़ने की प्रक्रिया में है। इसी सीरीज में ओशो की छाप लिये 'अग्नि गुरु' है। मनु जोसेफ की कहानी कहीं-ना-कहीं ओशो के विचारों से प्रभावित मानी जा सकती है जो समाज में वैवाहिक गठबन्धन को 'बन्धन' ही मानते थे जिनसे किसी का भला नहीं होता। ओशो के अनुसार सम्बन्धों के बन्धनों के बीच स्त्री-पुरुष की सनातन भूख आदम हव्वा से शुरू हुई थी आज भी उसमें कोई कोई परिवर्तन नहीं आया है। 'मैं एक्टिंग नहीं करता' अग्नि-गुरु का यह संवाद हमारे आस-पास के दिखावटी दुनिया पर टिप्पणी है जहाँ सुख भी दिखावा है तो दुःख भी सहानुभूति के मुखौटे में लिपटा हुआ है।

विवाह और तलाक पर समाज की सोच आज भी पुरातन ही है। भारतीय समाज में विशेषकर स्त्री के लिए तलाक किसी त्रासदी से कम नहीं है। तलाकशुदा स्त्री मतलब उसके जीवन में कलंक। नायिका श्रुति इसे नयी शुरुआत की तरह लेना चाहती है। दोनों डीकपल्ड (अलग होने को तैयार दम्पति) गोवा में पार्टी रखते हैं जिसमें वे यह सन्देश दे रहे हैं कि तलाक से वे दोनों दुःखी नहीं बल्कि खुश हैं। फिल्म के अन्त में दोनों की बेटी रोहिणी को अग्नि गुरु जी समझाते हैं

कि ''जब चीज पास से समझ में न आये तो उन्हें दूर से देखना चाहिए क्योंकि स्पष्टता के लिए उचित दूरी जरूरी है'' और दूर से देखना वास्तव में परिवार में एक-दूसरे को स्पेस देने की बात को ही स्पष्ट करता है। स्त्री-पुरुष का यह बन्धन कहीं-ना-कहीं स्त्री-पुरुष को बहुत कसकर बाँध देता है, गति रोक देता है और एक टाइम के बाद हम थक जाते हैं तब या तो आगे बढ़ना भूल जाते हैं या हथियार डाल देते हैं या फिर लड़ाई-झगड़े करते हैं। तलाक जैसी नौबत बन जाती है। भावी पीढ़ी यानी रोहिणी बात को समझ जाती है उसके चेहरे पर मुस्कान छा जाती है। हालाँकि तलाक के उत्सव को अभी स्वीकार करने में बरसों लगेंगे लेकिन फिल्म बताती है पति-पत्नी का रिश्ता कितना ही पवित्र घोषित कर दिया जाये दोस्ती से बेहतर कुछ नहीं। एक कहावत भी है कि पति-पत्नी को दोस्तों की तरह रहना चाहिए।

उल-जलूल लगने वाली आर्या की हरकतें वास्तव में सामाजिक नियमों के व्यावहारिक दोगलेपन को भी उजागर करती हैं। उसका तरीका हमें असामान्य लगता है जबकि आम आदमी खुद भी इसे जानते-समझते हैं पर अभिव्यक्त नहीं कर पाते। आर्या का ससुर गणपति बप्पा की गुहार लगाते हुए पड़ोस के नवयुवकों के पॉप गीतों पर अपनी आपत्ति जताता है, उन्हें भला-बुरा कहता है। दूसरी ओर डी.सी. पद से रिटायर्ड अपने इसी ससुर को आर्या को समझाना पड़ता है कि असुरक्षित शारीरिक सम्बन्ध स्त्री के लिए कितने खतरनाक होते हैं, वह दृश्य आपको हास्यास्पद लग सकता है लेकिन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सन्देश उसमें छिपा है। इसके अतिरिक्त फिल्म हमारे आस-पास के बुद्धिजीवियों पर भी बार-बार टिप्पणी करती चलती है। जो दुनिया में होने वाली विविध आपदाओं से दुःखी प्रतीत होते हैं, उन पर शोध कर रहे हैं, और जताना चाहते हैं कि वे पर्यावरणीय मुद्दों के प्रति बच्चों को संवेदनशील बना रहे हैं। हकीकत कुछ और है, पार्टी के एक दृश्य में पेण्टिंग प्रदर्शनी के समय एक पेण्टिंग में सबसे महँगा फल अविकाडो सबसे ऊपर रखा है और सबसे नीचे की ओर केला रखा है जो अमीर-गरीब बीच में बहुत दूरी को प्रदर्शित कर रहा है। जब यही केला खाने वाला, आर्या का ड्राइवर उनके बीच में आ जाता है, जिसे आर्या ने ही बुलाया है, तो डॉ. बासु उसे देखकर गर्दन घुमा लेता है क्योंकि वो तो खुद इस समय मास्टर पीस बना खड़ा हुआ है, यह सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर

है जो इस दृश्य में बहुत अच्छा बन पड़ा है हालाँकि ड्राइवर का थप्पड़ मारना अतिरेक लग सकता है पर यह भी माना जा सकता है कि मौका लगे या मौका मिले तो ये गरीब लोग इन अमीरों को एक झटके में सबक सिखा सकते हैं। आर्या और श्रुति का ड्राइवर गणेश दहिया की 12 साल की वैवाहिक जिन्दगी में किस तरह उतार-चढ़ाव आये यह सर्वविदित है। एक संवाद में वह कहता है–''लड़ाई-झगड़ा ठीक है लेकिन मौन जीवन में नहीं आना चाहिए, संवाद बने रहने चाहिए।'' यह मानव समाज की विवाह संस्था पर नये सिरे से सोचने का मार्गदर्शन दे रहा है। भारतीय समाज में आज भी विवाह का अर्थ सिर्फ लड़का-लड़की का नहीं बल्कि परिवारों का भी सम्बन्ध है। परिवार नामक संस्था तेजी से मायने बदल रहे हैं। एकल परिवार भी अब सिकुड़ चुके हैं जिसमें 'मैं और मेरा नाता दूसरा आये तो फोड़ू माथा' जैसा रूप बन रहा है। डीआईएनके यानी 'डबल इनकम नो किड्स' को बढ़ावा देने वाले युवा आगे आ रहे हैं। आज का युवा अपने जीवन में सामाजिक हस्तक्षेप बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करता। स्त्रियाँ भी अब घर तक सीमित नहीं हैं और न ही रहना चाहती हैं, उनकी प्राथमिकताएँ बदल रही हैं, पवित्र रिश्तों के नाम पर स्त्रियाँ अपनी इच्छाओं आकांक्षाओं, महत्त्वाकांक्षाओं की बलि देने को तैयार नहीं। यही कारण है कि श्रुति को तलाक की ज्यादा जल्दी है। उसकी स्वतन्त्र सोच भले ही आज विकसित लगे लेकिन भारतीय माँ के संस्कार अभी भी इसके साथ हैं। इसलिए बेटी की खुशी की खातिर वह तलाक के बाद किसी तरह की विडम्बना या त्रासदी को नहीं ओढ़ना चाहती, जिससे उसकी बेटी को दुःख हो, इसलिए वह तलाक को भी वैवाहिक उत्सव की तरह मनाना चाहती है। फिल्मों में प्रेमी-प्रेमिका के ब्रेकअप का जश्न तो हमने देख लिया, 'मुँह पे मेकअप करके मैंने ब्रेकअप कर लिया' जिसका असर युवा पीढ़ी खासकर लड़कियों पर दिखाई पड़ा, अब तलाक पर स्त्रियों के जीवन पर लगने वाले पूर्णविराम और उनके सिंगल होने की विडम्बना को 'उत्सव' की तरह सोचने की ओर यह पहला कदम है। विवाह की पुरातन बेड़ियों को यह नयी सोच आसानी से हजम होने वाली नहीं फिर भी आधे-आधे घण्टे का हर एपिसोड आपको हँसाएगा और सामाजिक विडम्बनाओं पर की गयी टिप्पणियों पर कुछ नया सोचने के लिए उकसाएगा भी, खासकर युवा वर्ग को। सभी का अभिनय चरित्र के साथ बँधा हुआ है। आर. माधवन का जवाब नहीं, सुरवीन भी आपको सिर्फ अपनी सेक्सी इमेज के कारण नहीं अपितु संवाद अदायगी और अभिनय के बल पर आकर्षित करती है। उनकी बेटी रोहिणी भी आपको एक संवेदनशील लेकिन जागरूक बढ़ती लड़की के रूप में पसन्द आएगी, कुल मिलाकर यह वेब सीरिज आपको तलाक के उत्सव में शामिल होने का निमन्त्रण दे रही है। हो सकता है आप मानसिक रूप से तैयार न हों, इसे स्वीकार करना आपके ऊपर है।

■

समता से ही आता है सामीप्य

रणधीर कुमार गौतम

दर्शन से दृष्टि पैदा होती है और दृष्टि से दर्शन। मेरी नजर में पुस्तक-लेखन प्रक्रिया की ये अन्तः प्रेरणाएँ हो सकती हैं–विषय के जिज्ञासु विद्यार्थी के रूप में पुस्तक-लेखन या शिक्षकों के दायित्व से संचालित लेखन या फिर एक विचारक के रूप में लेखन। नन्दकिशोर आचार्य जी ने एक विचारक के रूप में लोहिया की स्थापनाओं को नये दार्शनिक आयाम के साथ पाठकों तक पहुँचाने का काम किया है।

विद्वान लेखक ने लोहिया के विचारों की व्यापकता और गहराई से पाठक को परिचित करने के उद्देश्य से पुस्तक को सात अध्यायों में बाँटकर अन्त में अपने एक साक्षात्कार को शामिल किया है। इसमें लोहिया की सभ्यता की अवधारणा, इतिहास दर्शन, सामीप्य और समानता, अर्थनीति, राजनीतिक दर्शन, सप्त क्रान्ति और सांस्कृतिक चिन्तन और उनके मानव सामीप्यवादी मूल्य-बोध की चर्चा की गयी है। पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें लोहिया के विचारों को गाँधी, विनोबा, एम. एन. राय और कुछ समाजवादी विचारकों जैसे जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्र देव के बरक्स रखकर उनकी परीक्षा करने का भी प्रयास किया गया है। इसमें भारतीय समाजवादी दर्शन के गठन की एक ऐतिहासिक तस्वीर भी सामने आयी है। पहला अध्याय 'लोहिया की सभ्यता सम्बन्धी अवधारणा' पर है। लेखक का मानना है कि यद्यपि डॉक्टर लोहिया किसी ईश्वर या परम सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते किन्तु उनकी मनुष्य की अवधारणा में भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय मिलता है। लेखक के मतानुसार डॉ. लोहिया भी प्रकारान्तर में महात्मा गाँधी की तत्त्वमीमांसा का समर्थन करते दिखते हैं जब वह अपनी मानव बन्धुत्व की अवधारणा को आध्यात्मिक भावना से जोड़ते हैं।

डॉ. लोहिया एक ऐसी सभ्यता की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो भौतिकता और आध्यात्मिकता के सृजनात्मक मेल पर खड़ी हो। कहना न होगा कि इस तरह की

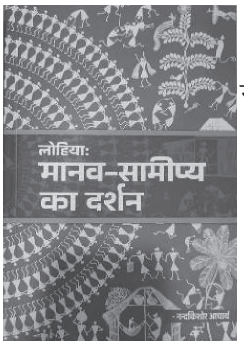

लेखक : नन्दकिशोर आचार्य
प्रकाशक : आई.टी.एम. विश्वविद्यालय, ग्वालियर
मूल्य : ₹ 100/-

धर्मनिरपेक्ष आध्यात्मिकता विरल है और उसे गाँधी, विनोबा की धर्मसापेक्ष आध्यात्मिकता से जोड़कर देखने का प्रयास उचित नहीं जान पड़ता। शायद इसलिए डॉ. लोहिया गौतम बुद्ध को सम्मान पूर्ण ढंग से याद तो करते हैं किन्तु उनमें भी समग्रता और पूर्णता का अभाव पाते हैं। पुस्तक के दूसरे अध्याय में लेखक ने लोहिया के इतिहास दर्शन की विवेचना की है। इतिहास दर्शन की चक्रीय और एकरेखीय धारा में नियतिवाद की स्वीकृति को मानते हुए लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि दोनों में मनुष्य का अपना महत्त्व नहीं रहता। लोहिया इतिहास दर्शन की दोनों धाराओं को अस्वीकृत करके अपनी एक नयी दृष्टि विकसित करते हैं जिसमें वह इतिहास की गतिशीलता को समझने के लिए किसी अटल नियम की स्थापना के स्थान पर मानव कर्तृत्व को महत्त्व प्रदान करते जान पड़ते हैं। लेखक ने तीसरे अध्याय का शीर्षक 'सामीप्य और समानता' रखा है। लोहिया के अनुसार समानता को उसके चार अर्थों में ग्रहण किया जाना चाहिए। आन्तरिक और बाह्य तथा आध्यात्मिक और भौतिक। लोहिया के अनुसार, जब तक मानव समाज समानता के चारों अर्थों को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे वास्तविक समानता का प्रामाणिक अनुभव नहीं हो सकता।

लोहिया एक नयी व्यवस्था का प्रस्ताव करते हैं जिसके लक्ष्य होंगे–''अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन, अपेक्षाकृत सीमित आवश्यकताएँ, विभिन्न आयों में अपेक्षाकृत समानता और सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व' (पृ. 42)। उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिस अर्थ-दर्शन को अपनाने की जरूरत है, उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करना लेखक के अगले अध्याय का उद्देश्य है। लोहिया के लिए मनुष्य उपभोक्ता मात्र नहीं है। इसीलिए आधुनिक सभ्यता के मुख्य प्रेरकों में रहन-सहन के स्तर की सतत् वृद्धि और उत्पादन की सतत् वृद्धि की आलोचना करते हुए वह 'सम्मानजनक जीवन स्तर' का लक्ष्य रखते हैं। यह गाँधी जी की सादगी से भिन्न है जिसे वह सभी के लिऐ स्वीकरणीय नहीं मानते। यहीं लेखक एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं कि क्या केवल 'सम्मानजनक जीवन-स्तर' पर्याप्त है या उसमें एक गुणवत्ता पूर्ण जीवन का आग्रह भी सम्मिलित है?

यह स्वाभाविक ही है कि लोहिया के राजनैतिक चिन्तन के विवेचन के अन्त में लेखक उनकी 'सप्तक्रान्ति' की अवधारणा पर अपने विचार केन्द्रित करते हैं जैसा कि एक स्वतन्त्र अध्याय के माध्यम से उन्होंने किया है। अन्याय और गैर-बराबरी के जिन रूपों के खिलाफ लोहिया क्रान्ति का आह्वान करते हैं, वे हैं–1. अमीरी-गरीबी, 2. जाति 3. रंग-नस्ल 4. नर-नारी 5. प्रभुदेश-दबे हुए देश 6. हथियार-बल 7. व्यक्ति-राज्य।

निश्चय ही नन्दकिशोर आचार्य जी की यह पुस्तक जैसी कि अपेक्षा थी, लोहिया के वैचारिक-सैद्धान्तिक पक्ष की उपेक्षा को कम करने में सक्षम है। गाँधी-विनोबा व कुछ महत्त्वपूर्ण समाजवादी विचारकों से उनकी तुलना भी पुस्तक की एक विशेषता है। अन्त में, अपनी खूबियों और कमियों के साथ आचार्य जी की पुस्तक उन सभी के पढ़ने के योग्य है जो भारतीय समाजवाद के केन्द्रीय पुरोधा डॉ. लोहिया के विचारों को समझना चाहते हैं। इसके लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं।

■

लेखक आई.टी.एम. विश्वविद्यालय, ग्वालियर के गाँधीयन लोकतन्त्र एवं समाजवाद विद्यापीठ में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+91 85270 29931
gautamrandhir964@gmail.com

लिये लुकाठी हाथ

असन्तुष्ट शिरोमणि

गिरीश पंकज

उन्हें लोग अब असन्तुष्ट शिरोमणि कहने लगे हैं। किसी भी व्यक्ति के बारे में उनसे चर्चा करो, वे उखड़कर उस व्यक्ति के बारे में उल्टी-सीधी बात जरूर करेंगे। आज तक किसी ने भी उनके मुँह से किसी भी बन्दे की तारीफ नहीं सुनी। उनको एक और बीमारी है– अपच की। उन्हें कुछ भी नहीं पचता। खाना तो ठीक से पचता ही नहीं, किसी की कोई उपलब्धि भी हजम नहीं होती। वे हवाबाण हरड़े, हाजमोला या कोई अन्य चूर्ण खाकर पेट को तो कुछ दुरुस्त कर लेते हैं, लेकिन दिमाग में जो ईर्ष्या, कुण्ठा कुलबुलाती रहती है, उसका उपचार नहीं हो पाता। इस कारण बेचारे अक्सर तनाव में रहते हैं। किसी को कोई सम्मान मिला तो भी उखड़ जाते हैं। किसी ने कोई अच्छी बात की, तो भी उनकी टिप्पणी हाजिर हो जाती है कि उसकी बात कुछ हजम नहीं हुई। यह वाक्य उनका तकियाकलाम भी है। उनकी भयंकर नकारात्मकता का लोग कभी-कभी खूब मजा भी लेते हैं। जान-बूझकर उनको छेड़ते रहते हैं।

असन्तुष्ट जी की आदत के बारे में मुझे भी पता था इसलिए उस दिन जब उनसे भेंट हुई तो मैंने भी मजा लेने के लिए पूछ लिया, ''महात्मा गाँधी जी के बारे में आपका क्या ख्याल है?''

इस पर छदामीराम बोले, ''बकवास! मैं उन्हें महात्मा नहीं मानता।''

''और नेहरू को?''

''उनकी चर्चा ही बेकार।''

''लेकिन क्यों चर्चा बेकार है? कुछ तो कारण होगा।''

''बस, कह दिया तो कह दिया।''

''नेताओं में कोई ठीक लगता है?''

''कोई ठीक नहीं, सब चोर हैं।''

''अरे, एकाध तो कोई अच्छा होगा?''

''कहा न, कोई भी नहीं।''

मैंने उन्हें फिर छेड़ा, ''अच्छा राजनेता न सही... देश का कोई एक लेखक तो होगा, जो आपको पसन्द आता हो?''

''सब बकवास लिख रहे हैं।''

''मुंशी प्रेमचन्द?''

''एकदम साधारण। काम चलाऊ! लोगों ने जबरदस्ती उन्हें कथा-सम्राट बना दिया।''

''और गोस्वामी तुलसीदास?''

''दम नहीं है गुरु। जबरदस्ती लोकप्रिय हो गये।''

अब मैंने देश के बाहर के लोगों के नाम पूछे।

''अमेरिकी राष्ट्रपति कैसे लगते हैं?''

''शानदार... डायनेमिक।''

''राइटर मार्क ट्वेन, शेक्सपियर के बारे में क्या ख्याल है?''

''इनके मुकाबले अपने यहाँ कोई लेखक ही नहीं है।''

कुछ देर बाद मैंने उनके आस-पास के लोगों के नाम लेना शुरू किया। सोचा, किसी एक की तारीफ तो करेंगे।

''रामलाल के बारे में क्या ख्याल है''?

अरे, वह तो बहुत शातिर आदमी है...

और श्यामलाल कैसा बन्दा है?

वह! वह तो मुझे महाचोर लगता है...

लल्लू राम के बारे में क्या सोचते हो?

पूरी तरह बकवास आदमी है...

इसके बाद मैंने तड़ाक से पूछा, ''अच्छा, तो कल के बारे तुम्हारी क्या राय है? मुझे तो बहुत बड़ा ठग लगता है, ठग।''

अब मैंने हल्की-सी मुस्कान के साथ बड़ी फुर्ती के साथ पूछा, ''और छदामी राम के बारे में क्या कहना है?''

''यह भी धूर्त नम्बर एक है!''

मुझे हँसी आ गयी... मैंने कहा, ''मतलब यह है कि आप नम्बर एक के धूर्त हैं?

''क्या! आपने मुझसे मेरे बारे में पूछा था?'' छदामी राम ने सिर पीटते हुए कहा, ''सॉरी, मुझे लगा आप किसी और के बारे में पूछ रहे हैं। अब मैं अपने बारे में क्या राय दूँ। अपने मुँह से अपनी तारीफ करना ठीक नहीं। दुनिया जानती है कि मैं क्या हूँ।''

अब मैंने कुछ-कुछ हँसते हुए कहा, ''एकदम सही है। दुनिया आपको जानती है कि आप क्या चीज हैं।''

''जी, मैं चीज बड़ी हूँ मस्त-मस्त। इसीलिए लोग मुझसे हो जाते हैं त्रस्त-त्रस्त! सच-सच बोल देता है इसलिए लोग मुझसे त्रस्त रहते हैं।''

कुछ दिन बाद फिर मिल गये। चेहरे पर तनाव की मुन्नी बाई जमी हुई थी।

मैंने पूछा, ''भयंकर तनाव में दिख रहे हैं क्या बात है?''

वह बोले तनाव की बात ही है। परीक्षा का रिजल्ट निकला है। बेटे के नम्बर को लेकर दुःखी हूँ।

मैंने सान्त्वना देते हुए कहा–''कोई बात नहीं अगर कम नम्बर आये हैं और अधिक मेहनत करके ज्यादा नम्बर पा जाएगा। डोंट वरी। बाई द वे। उसका कितना पर्सेंट आया है?''

वह मुँह लटकाकर बोले, ''पंचानबे प्रतिशत!''

मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, ''तो छप्पर फाड़ नम्बर है... इतने अच्छे नम्बर पाने के बावजूद आपका दिल है कि मानता नहीं? बच्चे की जान लोगे क्या?''

असन्तुष्ट शिरोमणि बोले, ''मैंने बेटे को सौ फीसदी नम्बर का टारगेट दिया था... दुनिया वालों के सामने मेरी क्या इज्जत रह जाएगी। इसलिए भयंकर टेंशन है। पत्नी का रो-रोकर बुरा हाल है। लेकिन बेटे के चेहरे पर मुस्कान है। वह कुछ समझता ही नहीं।''

उनकी बात सुनकर मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा–''आपका बेटा आप सबसे अधिक समझदार है। उसे पता है कि 95 परसेंट कम नहीं होता।''

छदामी राम बोले, ''हमने तो सौ परसेंट का टारगेट दिया था।''

हमने छदामी राम को समझाया कि बाबू! बच्चों पर ज्यादा टारगेट का बोझ मत डालो। इस चक्कर में कहीं ऐसा न हो कि अगली बार साँप-सीढ़ी के खेल की तरह पंचानबे से सीधे पचास पर आ जाये।

मेरी बात सुनकर वह मुँह बिचकाने लगे। मुझे लगा, अब मुझे आगे बढ़ जाना चाहिए।

■

लेखक व्यंग्यकार हैं। महत्त्वपूर्ण समसामयिक विषयों पर भी निरन्तर लिखते रहे हैं।
+918770969574
girishpankaj1@gmail.com

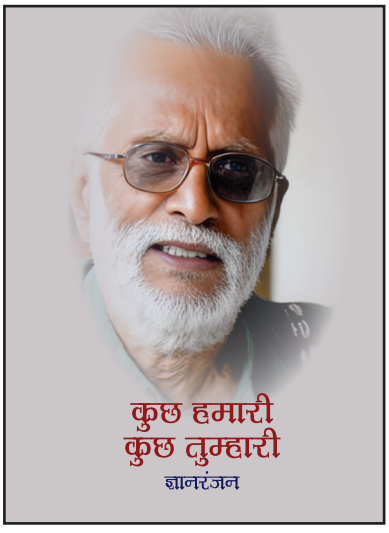

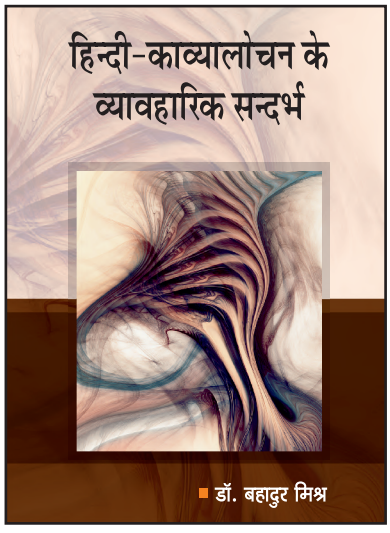

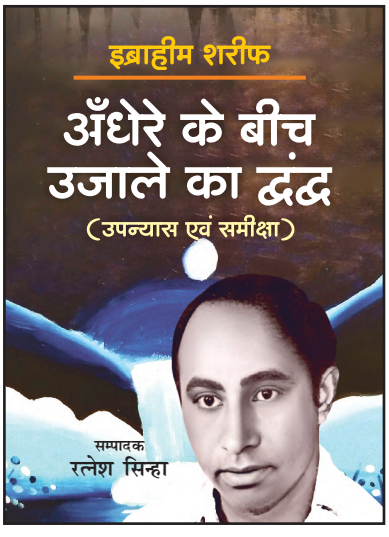

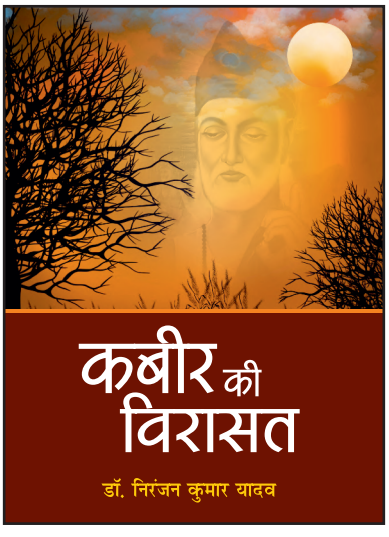

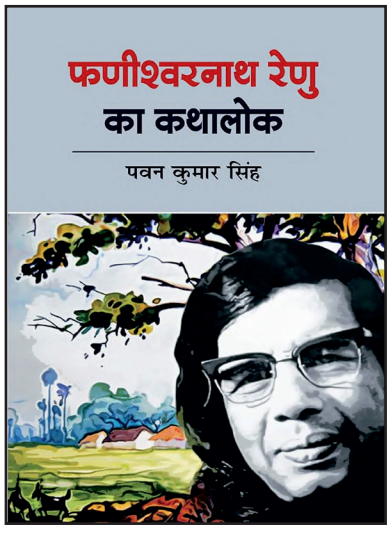

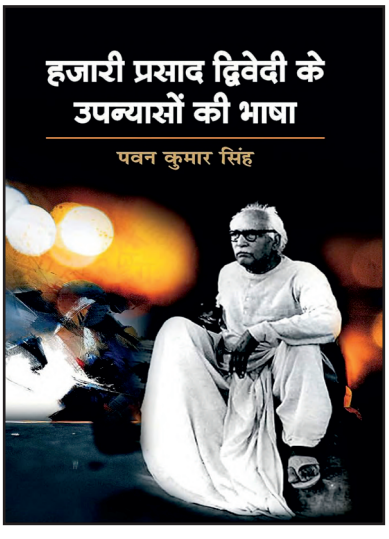

Available at : amazon.in

रचनाकार पब्लिशिंग हाउस

D-18, Gali No.9, Jagatpuri Extn., Delhi
9910143493
Rachnakarpublishing House
rachnakarpublishinghouse@gmail.com
rachnakar publishing house

TARU

तरू

खेत, किसान और कृषि आजीविका

'तरू' उत्साही एवं जानकार लोगों की टीम है जिनका मिशन है,
टेक्नोलॉजी के ज़रिये कृषि सशक्तीकरण और टिकाऊ खेती की ओर किसानों को प्रेरित करना।

TARU

+91 96112 44553
linkedin.com/company/taru.ag/
info@taru.ag
facebook.com/taru.agri/